बालब्रह्मचारी शान्तमूर्त्ति मुनिराज श्री जयविजयजी महाराज।

The Jain' Press-SURAT.

ॐ

अर्पण पत्रिका.

प्रातःस्मरणीय चारित्रचूडामणि सकलसद्गुणगरिष्ठ महात्मा मुनि महाराज श्रीजयविजयजी महाराज.

आपश्रीने सरस्वतीको सम्पादन कर तथा जैन धर्म्म जैसे सर्वोत्कृष्ट धर्म्मके तत्वोंमें प्रवेश कर जैन प्रजा पर महान् उपकार किया है और कर रहे हैं हिन्दी जैन साहित्य पर आपका अनुपम प्रेम आपके उपदेश तथा परिश्रम द्वारा प्रगट होता है. श्री हिन्दी जैन ज्ञान प्रसारक मंडल तथा पुस्तकालयके वारंवार सहायक बनकर आपने उसके अभ्युदयके अर्थ जो २ प्रयास किये हैं और कर रहे हैं वे ही आपके हिन्दी साहित्य प्रतिका अनुपम प्रेम प्रगट कर रहे हैं. जैन साहित्यके संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थोंका हिन्दी तथा और भी प्रचलित भाषाओंमें उल्थाकरा कर जैन साहित्यको सर्वत्र फैलाने के लिये स्थान२पर आपने उपदेश दिये हैं. इतना ही नहीं परन्तु आप इस कामको करानेके लिये उत्सुक हैं जिसके

कुछ अंशमें आप फलीभूत भी हुए हैं और यही कारण है कि, यह पुस्तक तथा साक्षात् मोक्ष नामक लघु ग्रन्थ जो पहिले प्रकाशित होचुका है आपके ही निष्कारण करुणाके फल हैं. और आपश्रीके प्रतापसे यह संस्थायें दो ग्रन्थ प्रकाशित करनेको समर्थ हुई है तथा भविष्यमें जैन साहित्यके प्राचीन ग्रन्थोंको प्रकाशित करनेमें फतेहमंद होंगी. चर्म तीर्थङ्कर महावीर प्रभुके शासनमें चारित्ररूपी बख्तरको पहिनकर प्रबल शत्रुके पंजेमेंसे बचानेके लिये आत्मसत्ताको अखंड काममें लाकर बड़ा उपकार किया है. इन अनेक सद्गुणोंसे आकर्षित हो कर जैन साहित्यके तत्त्वरूपी समुद्रमें प्रवेश करने वाले उत्साही मनुष्योंके लिये श्रीमद् सूरचंद्रकृत पद्यबंद जैन तत्त्वसार नामक ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद भक्तिभाव पूर्वक आपश्रीके कर कमलमें समर्पण कर अपने आपको भाग्यशाली मानता हूं.

चरणोपासक.

सेक्रेटरी, श्रीजैन ज्ञान प्रसारक

मंडल सिरोही.

श्रीमान् शेठ केसरीमलजी भुताजी-पालडी (सिरोही)

The Jain Press-Surat.

शेठ वालचंदजी उमाजी देलदर निवासीकी

द्रव्यकी सहायतासे

मुद्रित होनेवाला ग्रन्थ.

उमेदविजय ग्रन्थमाला अङ्क २

श्रीजैनकथारत्नसंग्रह (प्रथम भाग.)

इस पुस्तकमें जैन महाराजाओं, महाराणियों, मंत्रिया तथा शेठ लोगोंकी कथाएं हैं जिन्होंने समय २ पर जैन शासनकी अभिवृद्धिके लिये करोडो उपाय किये हैं जिनके शुद्ध चरित्रसे निकलता सार हरएक मनुष्यको ग्रहण करने योग्य है. जिन्होंने कि विपत्ति पड़ने परभी धर्म्म पर पूरी श्रद्धा रक्खी तथा शियल व्रतादिका पालन किया है जिनको पढ़नेसे वाचकवर्य बन्धुओं तथा वहिनोंके हृदयमें धर्म्माङ्कुरोत्पत्तिके साथ उनके अन्तः करणको शुद्ध बनाकर इस भव तथा परभवका श्रेयभी होसकता है. हरएक बन्धु और वहिन यह पढकर कुछ न कुछ धारण करेंगे कारण कि इस प्रकार व्रत

पालनेका मन उत्तम पुरुषोंके चरित्र पढनेसे ही हो सकता है तथा उत्तम पुरुषोंके चरित्र पढनेसे वाचकवृन्दभी उत्तम पुरुषोंकी गिनतीमें थोडे बहुत अवश्यही हो सकेंगे और उत्तम गुण प्राप्त करके व्रत नियम पालनेका प्रयास स्थिर मनसे वे ही करेंगे जिन्होंने उत्तम पुरुषोंके चरित्र पढे हैं अथवा श्रवण किये हैं अतएव हरएकके लिये उत्तम पुरुषोंके चरित्र पढना योग्य है. कि, जिसके बरोबर वर्त्तन करनेसे आत्मकल्याण हो सकता है इस पुस्तकका अल्प मूल्य रखनेका कारण यही है कि देलदर निवासी एक सद्गृहस्थ सहायता करनेवाले हैं इस लिये इसका अल्प मूल्य रक्खा गया है.

इस स्थानपर मुझे यह कहना अनुचित नहीं मालुम होगा कि इस पुस्तकको छपानेके लिये जिस सद्गृहस्थने सहायता की है उन्होंने भी अपनी लक्ष्मीका सदुपयोग किया है कि जिसको पढकर हरएक ज्ञान दानका लाभ प्राप्त करेगा अतएव यह मंडल इनका उपकार मानता है और प्रार्थना करता है कि अपनी लक्ष्मीका दूसरे अयोग्य खातोंमें द्रव्य करनेके बजाय ज्ञान खातेमेंही द्रव्य व्यय करेंगे तो अधिक लाभ होनेकी संभावना है.

यह पुस्तक पढकर जो मनुष्य अच्छे रास्ते चलेंगे और उत्तम व्रतादि पालकर आत्मकल्याण करेगें यह लाभ शा. दे्लदर निवासी शेठ बालचन्दजी उमाजीको प्राप्त होगा कारण कि इन श्रीमान्‌ने श्री जैन कथारत्न संग्रह प्रथम भाग अथवा श्रीमद् उमेदविजय ग्रन्थमाला अङ्क तीसरेको छपवाके पुण्य बन्धनका काम किया है इस लिये यह मंडल इनका उपकार मानता है तथा दुसरे महाशयोंकोभी इस प्रकार ज्ञान दान करनेको सूचित करता है.

सेक्रेटरी, श्रीजैन ज्ञान प्रसारक
मंडल सिरोही.

छपी हुई पुस्तकें निम्न लीखित पतेसे मिलेंगीः—

	रु.-आ-पा.
साक्षात् मोक्ष.	०-२-०
नई रोशनीकी कुल देवी	०-१-६
बुद्धिधन.	२-०-०
मारवाडियोंकी दशा.	०-०-६

सेक्रेटरी, श्रीजैन ज्ञान प्रसारक
मंडल सिरोही (राजपूताना)

निवेदन.

यह मंडलके प्रथम वर्षका दूसरा पुस्तक है. प्रातः स्मरणीय मुनिराज श्री जयविजयजी महाराजके उपदेशसे पालडी निवासी श्रीमान् शेठ केसरीमलजी मुताजीने इस पुस्तकको छपानेका कुल खर्च दिया है. अतएव यह संस्था इन दोनों मुनिराज तथा शेठश्रीका उपकार मानती है इनकी उदारतासे यह ग्रन्थ विना मुल्य देनेकी अनुकूलता हुई है. अतएव २०० पुस्तकें शेठश्रीकी तरफसे मुनिराजोंको, पुस्तकालय और सभादि संस्थाओंमें विना मुल्य भेट दी जायगी. शेष कोपियोंकी इनकी रायके अनुसार ही लगी किम्मतसे आधी कीमत रक्खी है. जो ऐसे उत्तम ग्रन्थ छपवानेके काममेंही ली जायगी उससे होने वाले पुण्य परंपराके भागीभी ये हो सकेंगे. इस स्थान पर मैं एक बात भूलता हूं वह यह है कि, जिन्होने इस पुस्तकका अनुवाद किया है उनको तो मैं भूलही गया. इस पुस्तकके अनुवादक मेरे परम मित्र श्रीयुत ताराचंद्रजी दोसी हैं जिन्होंने कि निःस्पृह भावसे अनुवाद किया है उनका यह मंडल आभार मानता है.

ज्ञान प्रसारक मंडल
ओफिस, सिरोही
ता. २ फरवरी १९१५

सेक्रेटरी, श्रीजैन ज्ञान
प्रसारक मंडल
सिरोही (राजपूताना)

भाषान्तरकार
का
व्यक्तव्य.

तात्त्विक विषय कैसे कठीन होते हैं, यह सभी शिक्षित लोगोंपर विदित हैं इसीसे इनपर आलोचन पूर्ण निवन्ध लिखना सवके लिये सम्भव नहीं है. इसके लिये वडी विद्वत्ता वडी चिन्ताशीलता, वडी गवेषणाकी आवश्यक्ता होती है. साथही यह अत्यन्त आवश्यक है कि लेखक धर्म्मके तत्त्वसे भलिभांती परिचित हो. इसी कारण तात्त्विक विषयोंपर आलोचनापूर्ण ग्रन्थ कम लिखे जाते हैं. मराठी, गुजराती, संस्कृत और प्राकृत भाषाओंमें इस विषयकी वहुतसी पुस्तकें हैं भी, पर हिन्दीमें ऐसे ग्रन्थोंका प्रायः अभावही है यहां पर यह ख्याल रखना जरूरी है कि जव तक हिन्दीमे ऐसी पुस्तक प्रचुरतासे न मिलने लगे तव तक हिन्दी साहित्यको अनुन्नतही समझना चाहिये और और विषयोके ग्रन्थ चाहे हिन्दीमें कितनेही क्यों न हो पर जवतक इस अत्यन्त आवश्यकीय अङ्गकी पूर्त्ति नहीं होगी तवतक हमारा साहित्य अधूराही रहजायगा.

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है. वह मन मानी बात नहीं है ऐसा कहनेका एक प्रधान कारण है. जिन लोगोंने तात्त्विक ग्रन्थ पढ़े हैं विशषकर जिन्होने इस विषयके ग्रन्थोंको पूरे तौरसे पढ़ा है वे इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि, तात्त्विक विषयके ग्रन्थोंका आसन संसारमें कितना ऊंचा है. अतएव तत्त्व-संस्कार साहित्यकी उन्नतिके लियेभी अत्यन्त प्रयोजनीय है और आध्यात्मिक संस्कारका पथ तात्त्विक विषयोंके लेखों द्वारा बहुत कुछ प्रशस्त हाता है. अस्तु.

हिन्दी संसारमें ऐसे विषयोंके ग्रन्थोका होना आवश्यक जानकरही मूल संस्कृत तथा गुजराती पुस्तकका उल्थाकर यह ग्रन्थ लिखा गया है. खास इस पुस्तकके चुननेमे मंडलको शायद दो अभिप्राय रहे होंगे. एक तो यह मुनिश्रीमद् सूरचंद्र वाचकका लिखाहुआ लधु परन्तु बहुत उत्तम प्राचीन ग्रन्थ है गो इस समय इनके लिखे हुए दूसरे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है परन्तु इस ग्रन्थपरसे एक बडे विद्वानका होना प्रतीत होता है. साथहीमे आप आध्यात्मिक ज्ञानीथे अतएव ऐसे तात्त्विक ग्रन्थ को जन समुहके उपकारके अर्थ लिखा है" उत्तमोत्तम खरतर गच्छके धारण करने वाले युगवर जिनराज सूरिके साम्राज्यमें उनके पट्टाचार्य श्री जिनसागरसूरिकी विद्यमानतामें अमरस

नामक उत्तम नगरीमें श्रीशीतलनाथका सान्निध्य प्राप्त करके सूरचन्द्र सुज्ञानके लिये यह ग्रन्थ रचा गया है. १९७९ वर्षे आश्विन पूर्णिमा बुधवार विजय योगमें इस प्रश्नोत्तरसे अलंकृत अमल पवित्र उत्तम ग्रन्थ पद्मवल्लभ गणिकी सहायतासे अर्हत् परमात्माके प्रसादरूप श्रीकी प्राप्तिके लिये वाचक उपाध्याय * सूरचंद्रने पूर्ण किया."

---

* सूरचंद्र वाचकने अपनी पट्टावली निम्नलिखित बताई है.

(खरतर गच्छकी बृहत् शाखा)

जिनभद्रसूरि
|
मेरुसुन्दर पाठक
|
१ हर्ष २ प्रियपाठक
|
१ चारित्र २ उदय वाचक
|
वीरकलश
|

सूरचंद्र वाचक.   पद्मवल्लभ गणि.

ग्रन्थके विषयके सम्बन्धमें कुछ कहना उचित नहीं है. विज्ञ पाठक उसे स्वयंही हृदयङ्गम करलेंगे यदि अनुवादकके भाषान्तरमें त्रुटियां रहगई हों तो उसके लिये पाठक मुझे क्षमा प्रदान करेंगे. इस मौकेपर मुझसे भावनगर श्रीजैन आत्मानंद सभाके संचालकोंको धन्यवाद दिये विना नहीं रहा जाता जिन्हो ने इस उत्तम ग्रन्थका गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया है. इसका हिन्दी भाषान्तर करनेमें गुजराती अनुवादसे मुझे वहुत कुछ सहायता मिली है.

सिरोही }
ता२८जनवरी १९१५ } भाषान्तरकार.

ॐ

जैन तत्त्वसार.

प्रथमाधिकार.

सिद्धान्त जिसका दोष रहित है और जो ज्ञानादि अतिशयोंसे दीप्त है. उन सत्य परमेश्वर श्री वर्द्धमान स्वामी-को प्रणिपात करके स्वआत्म ज्ञानार्थ किंचित विचार दर्शाता हूँ,

आत्मा कैसा है ?

आत्मा नित्य, विभु, चेतयवान् और अरूपी है. नित्य द्रव्य है परन्तु पर्यायकी अपेक्षा देव, मनुष्य, नारक अथवा तिर्यचगतिमें परिणाम वदला करता है अतऐव अनित्य भी है. विभु अर्थात् व्यापक-सर्वत्र व्याप्त होनेकी सत्ता सहित है सामान्यतः स्वशरीरमें ही व्याप्त रहता है.

कर्म्म कैसे है ?

कर्म जड, पुद्गल और रूप सहित है. जड अर्थात् चेतना रहित हैं. पुद्गल अर्थात् नाश होनेवाले हैं. रूप

सहित अर्थात् आकृति वाले हैं: परन्तु अति सूक्ष्मताके कारण से वे चर्मचक्षुसे दिखाई नहीं देते है.

जीव अनन्त है. उनके दो भेद है, कर्म रहित अर्थात् सिद्ध और कर्म सहित अर्थात् संसारी. संसारी जीवोकी भिन्न २ जातिएं तथा [1]योनिएं हैं. *वे जीव जो पृथ्वी, पानी (अप्), अग्नि (तेजस), वायु और वनस्पति रूपो काया में वर्त्तते हैं वे सिरफ स्पर्शन इन्द्रियोका विषय गृहण कर सकते हैं. इसलिये वे एकेन्द्रिय जातिके हैं. कृमि आदि स्पर्शन इन्द्रियाके साथ रसन इन्द्रिय हो वे द्वीन्द्रिय जातिके होते हैं. ऊपर बताई हुई दो इन्द्रियोंके अलावा घ्राण इन्द्रिय होवे वे चिंटी आदि त्रीन्द्रिय जातिके हैं चोथी दर्शन इन्द्रिय आंख जिनके अधिक हो वे भ्रमरा आदि चतुर्थ इन्द्रिय जातिके हैं.

---

१ जिनजीवोंका उत्पत्ति स्थान और उत्पत्ति समय स्पर्श, रूप, रस गंध समान वर्णवाले होतो वे एक जातकी योनी वाले कहलाते हैं और इसतरह सर्व जातोंकी योनी मिलके चोरासी लक्ष योनिएं हैं—जैनमत.

* पृथ्वी पानी आदिमें जीव हैं यह विज्ञान (Science) से सिद्ध होचुका है.

जिनके मय चार इन्द्रियोंके पांचवी श्रवण इन्द्रिय कान होते हैं वे देव, मनुष्य नारक, पशु, पक्षो, मत्स्य, सर्प, नकुल आदि तिर्यंच पंचेन्द्रिय जातिके हैं.

वनस्पति रूपमें जो जीव गिने जाते हैं. वे दो प्रकारके हैं. फल, साल, काष्ट, मूल, पत्र, और वीज रूपी वनस्पति के एक २ शरीरमें एक २ जीव होता है वह हर एक अलग २ वनस्पति कहलाती है. जिनके शरीर, सांधा और गांड गुप्त हो अथवा जिनके बरोबर भाग हो सकते हैं और जो तंतु रहित तथा छेदे जाने पर उगनेवाली कांदा, अंगुर, अदरख, हलदर गाजर, आदि वनस्पतियोंके एक २ कायत्व में अनन्त जीव होते हैं वे अनंतकाय अथवा साधारण वनस्पति कहलाती है इनको निगोदभी कहते हैं.

पृथ्वीकाय अपकाय, तेजसकाय, वायुकाय, और निगोद [साधारण वनस्पति काय] इन हर एकके सूक्षम और बादर [स्थूल] दो भेद है उनमें जो सूक्षम है वे सर्व लोकाकाश व्याप्त हैं परन्तु चर्मचक्षुसें देखे नही जाते हैं. बादर, पथ्वी-काय, अप्काय, तेजसकाय और वायुकाय के असंख्य शरी-

रोंका और बादर निगोद्के अनन्त शरीरोंका एक पिंड, चर्मचक्षुसे देखा जा सकता है, परन्तु प्रत्येक वनस्पति के एकादि संख्यात अथवा असंख्शात शरीरोका पिंड देखा जा सकता है. केवलज्ञानी सर्व जीवों को देख सकते हैं.

जीवोंसे कर्म अनन्त गुने हैं वे सर्व लोकाकाशमें व्याप्त हैं. अलावा इसके जीवके एक २ प्रदेशमें शुभाशुभ कर्मकी अनन्त वर्गणाएं हैं उनको सर्वज्ञ जान सकते हैं.

जिसतरह खानमें रत्न, सुवर्ण आदि मृत्तिकासे व्याप्त (आच्छादित) होते हैं इसी तरह संसारी जीव सर्व लोकाकाशमें निरंतर व्याप्त कर्मोंसे आकृत (आच्छादित) होते हैं.

भिन्न जाति- (स्वभाव अथवा सत्ता) वाले कर्मोंका तथा अत्माका योग कैसे हुआ ?

जिस तरह खानमें पत्थर (मृतिका ?) का और उसमें व्याप्त सोना तथा अरणिके लकडाका तथा समावेश हुई अग्निका योग अनादि सिद्ध है. दुध और उसमें रहे हुए घीका योग समकालमें हुआ है. सूर्यकान्त मणिका और उस में व्याप्त अग्निका तथा चद्रकान्त मणिका और उसमें व्याप्त

अमृतका योग एक साथ उत्पन्न हुआ है, उसीतरह कर्म और आत्माका योग केवल ज्ञानियोंने अनादि संसिद्ध कहा है.

जिस प्रकार सामग्रीके योगसे सोना पत्थरमेंसे अलग हो सकता है. उसी प्रकार आत्माका कर्मोंके साथ अनादि संबंध होने परभी वह कर्मोंसे मुक्त हो सकता है.

—※❀·❀※—
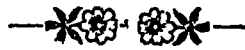
द्वितोऽधिकारः

जीव और कर्म अनादि है. जीव और कर्मका संयोग अनादि सिद्ध है. जिव कितनेक प्राचीन कर्मोंका नाश करता है और यथायोग प्राप्तहुए अथवा जैसे प्राप्त हो वैसे पुरः स्थित शुभाशुभ नये कर्मोंको ग्रहण करता है.

कर्म जड हैं इससे वे अपने आप आश्रय लेनेको समर्थ नहीं हैं. आत्मा बुद्ध (चेतनायुक्त) है अतएव सुखकी चाहनासे शुभ कर्मोंको जानता हुआ गृहण करता है; परन्तु दुःखका दोषी होने परभी जानते हुए अशुभ कर्मोंको कैसे गृहण करता है. कौन विद्वान स्वतंत्र होनेपर अशुभ वस्तुको जानकर ले ?

(जिस समयमें जो होनेका हो वह) काल (जीवके कर्म गृहण करनेका स्वभाव, नियति (भवितव्यता अथवा जो भावी भाव हो वह अवश्य होता है), पुर्वकृत (जीवके पूर्व-किये हुए कर्म) और पुरुषकार (जीवका उद्यम) ये सुख दुःखके पांच हेतु हैं इनकी प्रेरणासे जीव जानता हुआ जिस तरह शुभ कर्मोको गृहण करता है. उसी तरह अशुभ कर्मोको भी गृहण करता है जैसे कोई धनवान स्वतंत्र मोदक आदि स्वादिष्ट वस्तुको रवल जानता हुआ स्वभावसे खाता है. किसी मुसाफिरके ईष्ट स्थानपर जानेका दूसरा मार्ग न होतो वह वहां शीघ्र पहुचनेकी इच्छासे शुभाशुभ रास्तोंका उल्लघन करता है. चोर. परस्त्रीगामी, व्यभिचारी, मतधारी और ब्रा-ह्मण वैसे प्रकारके भाविभावसे जानते हुए शुभाशुभ कृत्य करते हैं. भिक्षुक, वंदीजन (भाट चारण और ऋषि (तत्त्व-ज्ञानी योगी) भिक्षाके स्निग्ध (घृतादिक स्नेहसे युक्त) अथवा रूक्ष जानकर जैसी मिले वैसी खाते हैं युद्धमें शूर घेरा जाने पर शत्रु और अशत्रुको जानता हुआ मारता है. रोगी निज रोगकी शान्तिकी ईच्छा करताहुआ और अपथ्यसे होनेवाले कष्टको स्वयम् जानता हुआ रोगसे परवश

होकर अपथ्यका सेवन करता है. उसी तरह जीवभी जानता हुआ शुभाशुभ कर्मोंको अवश्य गृहण करता है.

बिना ज्ञानकेभी जीवका कर्म गृहण करनेका स्वभाव है. जैसे लोहचुम्बकके संयोगसे पासमें रखा हुआ सार अथवा असार लोहके बीचमें कुछ व्यधान (अंतर) न हो तो वह लोह गृहण करता है. इसी प्रकार जीवभी काल आदिसे प्रेराकर अपने नजदीकके ुभाशुभ कर्मोंको विचार किये बिना (अनजानपनासे) गृहण करता है.

—✻✻×✻✻—

तृतीयोऽधिकार.

जीव स्वयम् अरूपी होनेपर वह इंन्द्रियो और हस्तादिकी मदद बिना कर्मोंको कैसे ग्रहण करता है किसीको कोई वस्तु ग्रहण करना हो तब वह उस वस्तुका निरीक्षण करके पीछेसे हस्तादिसे उसको ग्रहण करता है. आत्मा स्वयम् ऐसा नहीं है तो भी वह कर्मोंको ग्रहण करता है. . यह कथन कैसे घट सकता है ?

०आत्मा अपनी शक्ति तथा स्वभावसे इन्द्रियादि की मदद विनाभी भविष्यत कालमें भोगने योग्य कर्मोंको ग्रहण करता है. देखो ! *औषधिसे सिद्ध किये हुए पाराकी गुटिका को हस्तेन्द्रियादि रहित होने परभी दुध आदिका पान कराते हैं, शीशा तथा पानी को शोष लेता है, शब्द वेध करनेका वल देता है तथा शुक्रकी वृद्धि करता है. पारा चक्षु आदि इन्द्रियों रहित होने पर भी इतना काम करसकता है. तो आत्मा जिसकी शक्ति अचिन्त्य है वह क्या न करे ? वनस्पति भी हस्तादि विना आहरको ग्रहण करती है. नालियेरके मूलमें पानी सिंचने से उसके फलमें पानी पहुंचा हूआ प्रत्यक्ष मालूम होता है. इतना ही नहीं परन्तु प्रायःसर्व वस्तु अपने आप पानीको ग्रहण करके आर्द्र होती हैं यदि ऐसा कहा जाय

०जगत् कर्त्ता ईश्वर निरिन्द्रय निराकार होने पर भी अपनी अनंत शक्ति से भक्तो को देखता है, जपादि सुनता है, पुजादि का स्वीकार करता है और विना हस्त के पापका हरण करके उद्धार करता है—कर्तृवादी.

*अतिशय शृंगारवाळी स्त्री के अवलोकनसे पाराकुंए में से उठकर ऊँचा आता है—लोकोक्ति.

कि, यह तो पानी की शक्ति है जो दूसरी वस्तुओं में भेदन करके दाखिल होती है, तो उठामें व्याभिचार [बाध] आता है. मुद्र शिला और कोरडुकण कभी भी पानी में नहीं भेदे, जाते हैं यह तो जिसको जो वस्तु ग्रहण करने योग हो वे उसी वस्तुको ग्रहण करते हैं लोहचुम्बकका स्वभाव है कि यह सिवाय लोहके और किसी धातुको नहीं ग्रहण करता है इसी तरह जैसा २ भविष्यत कालमें बननेका हो वैसी प्रेरणा के वश होकर जीव कर्म पुदूगलोंको गृहण करता है. जैसे कोई सोता हुआ मनुष्य स्वप्न को देखकर मनमें अनेक प्रकारकी कल्पना करता है उस समय उसकी पांच इन्द्रिएं (स्पर्शनादि) और पांच कर्मेन्द्रिय (करपादादि) का बल नहीं प्रवर्तता है, उसी तरह आत्माभी इन्द्रियादि की मदद विना कर्मोंको गृहण करता है. क्या तब यह स्वप्न भ्रम है? नहीं ऐसा नहीं मानना चाहिये. कारणकि, समयपर स्वप्नका भी बहुत बडा फल होता है. स्वप्न देखने वाले को जैसा स्वप्न स्मर्ण में आता है वैसे जीवको कर्म गृहण किये का स्मर्ण नहीं होता है. यहभी कहना योग्य नहीं है क्योंकि, जैसा देखा हुआ स्वप्न याद नहीं आता है वैसे ही ग्रहण किया हुआ

कर्म्मभी याद नहीं आता है परन्तु हे जैसे किसीने स्वप्न देखा हो ठीक वैसाही उसको फल देता है. इसी प्रकार किये हुए कर्मभी किसीको ज्ञान विशेषसे फलते हैं. जैसे किसी उत्तम पुरुषको स्वप्न यथार्थ. फल देता है वैसे कर्म भी जीवके लिये फल साहित होते हैं. जैसे किसीको स्वप्न निष्फल होता है वैसेही केवल ज्ञानीके लिये कर्म तत्क्षणनाश होनेसे फल रहित होते हैं.

अब उत्पत्ति कालसे लगाके अन्त तक आत्मा क्या २ करता है उसको भी स्वचितसे अभ्यन्तरमें विचार कर देखो गर्भके अन्दर शुक्र और रजके बीचमें रह कर यथोचित आहार करके इन्द्रिय वल विना अपने आप सर्व साधुओंको पैदा करता है. गर्भसे जन्म लिये बाद भी जैसा मिला वैसा अ- आहार शरीरके अंदर ग्रहण करके तथा उसके विपाकसे अ पने आपकी धात्यादिक संपादन पूर्वक पुष्टी करता है, और रोम मार्गकी तरफ लेजाकर खलको पडा रखकर, रसका आ श्रय लेता है और उसके मलका वारम्वार वलसे त्याग करता है. सत्व, रज, और तम इन तीन गुणोंको धारण करता हुआ आत्मा सद्ज्ञान, विज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ,

काम, हिताहित आचार, विचार, विद्या, रोग और समाधिको धारण करता है.

इस प्रकार आत्मा शरीरके अंदर कैसे क्रिया करता है क्या देहके अंदर उसके हस्तादि तथा इन्द्रियादि होते हैं ? कि, जिससे आहारादि प्राप्त करके निर्वाह करता है और मुदत पूरी होनेपर जिसतरह घरका स्वामी जाता है ठीक उसी तरह निकल जाता है.

अमूर्त आत्मा जो शरीरसे भिन्न है वह शरीरके अंदर स्थित करके और शरीरमें व्याप्त होकर क्रिया करता है, और सूक्ष्म तथा स्थुल रूपी द्रव्यको ग्रहण करता है तब वह सुक्ष्मतम कर्मोंको कैसे गृहण न करे ? * पुनः यह जीव हस्तादि रहित होनेपर भी ऐसे रूपी शरीरको आहार पानादिक इंन्द्रियो के विषयमे तथा शुभाशुभ आरंम्भ होनेवाले काममे कैसे प्रवृत होता है इसकाभी विचार करो ! यदि जीव

---

* जीव तैजस कार्मण शरीरसे यह सर्व करता है—जैन सिद्धान्त.

के उद्यम विना इंन्द्रियो तथा हस्तादि अङ्गोसे सब क्रिया होती हो तो जीवरहित मुरदे कर्मेन्द्रियादिसे क्रिया क्यो नही कर सकते हैं. इस परसे यह सिद्ध होता है कि, शुभाशुभ कर्म आत्माही करता है. अकेले अङ्ग नही करते हैं. तब अरूपी आत्मा सूक्ष्म कर्मोको कैसे ग्रहण न करे ? जिस तरह ध्यानी पुरुष वाह्यगत इन्द्रियोंकी मदद विना ईच्छित कार्य करता है. जिह्वाकी मदद विना जप जपता है. कर्णकी मदद विना सुनता है. और जल, पुष्प, फल तथा दीप इन द्रव्यो विना सद्भाव पूजाको सफल करता है. इसी तरह यह जीव-भी इंन्द्रिय तथा हस्तादिककी मदद विना इन काल स्वभावादि पंच समवायसे प्रेराकर कर्मोंको गृहण करता हैं=

जीवके एक २ प्रदेशमे अनंत कर्म लगे हुए हैं तो वे पिण्डिभूत होकर द्रष्टिसे क्यो नही देखे जाते हैं ?

अपने जैसे चर्मचक्षुवाले सूक्ष्मतम कर्मोको नही देख सकते हैं; परन्तु ज्ञानी लोग सिरफ अपनी दिव्य ज्ञानशक्तिके

= ब्रह्मका ध्यान धरनेवाला इन्द्रियादिकी मदद विना ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है—ब्रह्मवादी.

उदयसे उनको देख शकते हैं. जैसे किसी पात्रमें अथवा वस्त्रा-
दिमें लगी हुई सुगंधमय अथवा दुर्गंधमय वस्तुकी सुगंध जान
सकते हैं; परन्तु पिण्डभूत होनेपर नयनादिसे देख नहीं स-
कते हैं इसी तरह जीवके लगे हुए कर्मभी अपनेसे देखे नहीं
जाते हैं. सिरफ केवलज्ञानी स्वज्ञानके प्रभावसे उनको देख
सकते हैं तथा जान सकते हैं. जिस तरह सिद्धपारेका पान
किया हुआ सुवर्णादि मालूम नहीं होता है तथा द्रष्टिसे देखा
नहीं जाता है परन्तु जब कोई सिद्ध योगी पुरुष उसको पारे-
मेंसे बाहिर निकालता है तब उसका अस्तित्व निश्चित होता
है. इसी तरह जीवके लगे हुए कर्म मात्रको ज्ञानी लोग देख
सकते हैं तथा जान सकते हैं. अन्य कोई सामान्य पुरुष उनको
नहीं देख सकता है तथा जान सकता है.

चतुर्थोऽधिकार.

जीव अमूर्त तथा कर्म मूर्त है ये दोनो संयोग न्यायसे
कैसे घट सकते हैं. भिन्न वस्तुएं आधाराधेय भावको कैसे
धारण करती हैं ?

* जीवकी शक्ति और कर्मके स्वभावसे इनका संयोग घट सकता है. गुणका आश्रय द्रव्य है और संसारी जीव द्रव्यका गुण कर्म है अर्थात् गुण कर्म गुणी (जीव) का आश्रय ले यह न्याय है. अमूर्त आकाशके विचक्षण मूर्त तथा अमूर्त, गुरु तथा लघु सर्व पदार्थोंका विनाशी महान् आधार माना जाता है. विचार करो कि, यह अरूपी आत्मारूपी द्रव्योंको निरंतर कैसे धारण करता है? मिथ्यात्व दृष्टि, भ्रम, कर्ममत्सर, कषाय, काम, कला, गुण क्रिया और विषय इनमें का क्या २ शरीरमें रहनेवाला आत्मा धारण नहीं कर सकता है.? यदि ऐसा कहा जाय कि, ये गुण तो शरीर आश्रित है तो इस अवसरपर विचार करनेकी यह बात है कि शरीर जीवरहित होता है तो वे क्यों नहीं दृष्टिसे देखे जाते है अर्थात् ये गुण शरीराश्रित नहीं है. परन्तु जीवाश्रित है. अधिक ख्याल करनेकी इसमे कोई बात नहीं है देखो! इस द्रश्यमान शरीर को अद्रश्यमान आत्मा कैसे धारण कर रहा है? इसीका ही

---

* कल्पान्तकालमें सर्व विश्व निराकार ईश्वरमें लीन होगा तव भूतगण और गुणोकी स्थिति भी उसमें होगी.

कर्त्तृवादी.

विचार करो. अरूपी आत्मा और कर्म इसका संगम कौतुक उत्पन्न नहीं करता है. जैसे कापूर, हिंगादि अच्छी बुरी वस्तुकी गंध स्थिति माफिक आकाशको आश्रयकर रहती है. इसी तरह कर्म जीवके आश्रित रहते हैं इत्यादि प्रत्यक्ष दृष्टान्तोंसे निश्चय होता है कि, कर्म आत्माका आश्रय लेता है जो भवी (संसारी) कहलाता है इस तरह आत्मा और कर्मका आश्रयाश्रेय भाव सिद्ध हुआ.

पञ्चमोऽधिकार.

परमेष्ठी संज्ञावाले सिद्धात्मा अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत सुख, और अनंत वीर्यसे जो दीप्त है. वे सिद्ध जीव कर्मोंका क्यों नहीं गृहण करते हैं ? यदि उनके कर्म है तो उन शुभ कर्माका गृहण करनेवाला कौन है जो निषेध करता है ?

सिद्धात्माओंके लिये कर्म गृहणका अयोग है. कारणिक, कर्मोंका गृहण सूक्ष्म तैजस् कार्मण शरीरसे होता है जिसका सिद्धात्माओंके लिये सर्वथा अभाव है सिद्धात्माओंको ज्यो-

तिप, चिद् और आनन्दके भरसमुहसे सदा तृप्ति होती है. सुख दुःखकी प्राप्तिका कारणभूत काल स्वाभावदि प्रयोजको का सिद्धात्माओंके लिये अभाव है. सिद्धात्मा निरंतर निष्क्रिय है अथवा सिद्धात्माओंका सुख वेदनीय कर्मके क्षयसे जो उत्पन्न हुआ है. वह अनंत है और कर्म शान्त है इससेभी अतुल्य मानकी वजहसे कर्म सिद्धके सुखके हेतु नहीं हो सकते हैं. तात्पर्य यह है कि, सिद्धात्मा कर्मोंको ग्रहण नहीं करते हैं जैसे संसारमें क्षुधा और तृषासे मुक्त सुतृप्त जीवको तृप्तिकी कालमर्यादा नहीं होती है. जितेन्द्रिय तुष्ट योगीको कुछभी ग्रहण करनेकी वांछा नहीं होती है. जैसे पूर्ण पात्रमें कुछभी नहीं समा सकता है ठीक वैसे ही चिदानंदामृतसे परिपूर्ण सिद्धात्मा किंचित् कर्म ग्रहण नहीं करते है. जिस तरह मनुष्यको अद्भुत नृत्यदर्शनसे सुख होता है इसी प्रकार सिद्धोको विश्व वर्तावरूप नाटकके प्रेक्षणसे नित्य सुख वर्तता है.

सिद्धोंके कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय अथवा शरीर इनमेंसे कुछ भी नहीं होता है तो वे कैसे अनंत सुखको प्राप्त करते है ?

संसारमें कोई ज्वरादिसे पीडित हो और कदाचित् उसको निद्रा आई हो तो उसके संबंधीयोंका यह ख्याल होता है

कियह सुखमें है इसको मत जगाओ निद्रावस्थामें इन्द्रिय-जन्य सुखके करपादादिकी क्रियादि कुछभी नहीं दिखता है तोभी सोते हुए मनुष्यको सुखमें होना कहा जाता है. जाग्रत (ज्ञानादि उपयोग वाले) सिद्धमें सदा सुख होता है अलावा इसके जो योगी आत्मज्ञानामृतका पान करता हुआ अपनेको सुखी मानता है वैसे ही किसी संतुष्टसे पुष्ट और जितेन्द्रिय मुनिको कोई दूसरा मनुष्य पूछता है कि, आपकी तवियत कैसी है. तव वह सुखी होना जवावमें कहता है. उस क्षणमें उसके पास उत्तम वस्तुका स्पर्श, भोजनका योग, गंधग्रह, दर्शनका श्रवण अथवा पानीशादादिकी क्रिया आदि कुछ नहीं होते हैं तोभी संतुष्ट महात्मा 'मैं सुखी हूं' इस तरह वार-म्बार कहते हैं. उसका ज्ञान सुख वही जानता है ज्ञानहीन उसका कथन करनेको समर्थ नहीं होते हैं. इसी प्रकार सि-द्धोंमें इन्द्रियोंके विषय तथा कियाएं विना अनंत सुखहै उनके सुखको वेही जानते हैं. ज्ञानी यह कहनेको समर्थ नहीं है कारणकि, वे निरुपम हैं.

षष्ठमोऽधिकारः

जीवके कर्म्म गृहण करनेका स्वभाव है. यह मूल स्वभावको छोडके सिद्ध कैसे हो सकता है ?

जीव और कर्मका अनादि सबन्ध है तोभी अच्छे प्रकारकी सामग्री मिलनेसे कर्म गृहण करना छोडकर जीव शिव पदको प्राप्त कर सिद्ध होता है. इसके विषयमें यह दृष्टान्त है. पारेका मूल स्वभाव चंचल और अग्निमें स्थिर रहनेका है परन्तु योग्य प्रकारकी भावना देनेसे वह्निमेंभी स्थिर रहता है अग्निमें दाहकनेका मूल स्वभाव है परन्तु योग्य प्रकारके प्रयोग, मंत्रयोग अथवा औषधिका लेपन करनेसे अग्निमें* प्रवेश करनेवालेको अग्नि दहन नहीं करती है. अग्नि भक्षण करनेवाले+ चकोर पक्षीको अग्नि अपना स्वभाव बदल जाने

---

* सन्त पुरुषों और सतियोको अग्नि दहन नहीं करती है—लोकोक्ति.

+ चकोर पक्षीचंद्रज्योत्स्नानका पान करता है—विद्धशालभञ्जिका.

से दाह नहीं करती है तथा अभ्रक, सुवर्ण, रत्नकम्बल और सिद्ध पारेकोभी दाह नहीं करती है. उस समय अग्निमस उसकी दाहकता कहांचली जाती है? लोहचुम्बक-पाषाणमें लोह गृहण करनेका सहज स्वभाव है परन्तु जब अग्निसे मृत हो जाता है अथवा उसके प्रभावको हरण करनेवाली दूसरी औषधीसे उसको संयुक्त करनेमें आता है तब इसका लोह गृहण करनेका स्वभाव नष्ट हो जाता है. इस प्रकार सिद्धोंका कर्म योग नष्ट हो जाता है जहां तक धान्यके मूल बीजके स्वभावमें विकार नहीं होता है तहां तक धान्य अंकुरकी वे उत्पत्ति करते हैं परन्तु जब उस बीजमें किसी तरहका विकार पैदा हो जाता है तब अंकुरोत्पत्ति नहीं होती है. इसी तरह सिद्ध जीवमें कर्मबल जल जानेसे नवीन कर्म बंधन नहीं होता है. वायुका असली स्वभाव चंचल है परन्तु *जब पवनको पखालमें निरुद्ध करनेमें आता है तब वह चंचल स्वभाव कैसे चला जाता है? इसी तरह सिद्धात्माओंके भी कर्म्म ग्रहण करनेका स्वभाव चला जाता है इन और ऐसे दूसरे दृष्टान्तमें जिसतरह असली स्वभाव बदल जाता है इसी तरह जीवके

कर्म गृहण करनेका असली स्वभावभी सिद्धत्व प्राप्त करने पर चला जाता है इसमें कुछभी संचय नहीं है.*

सप्तमोऽधिकारः

मुक्ति मार्गकाद्वार सदाकाल खुला रहेगा और संसारभी भव्य सून्य नहीं होगा–यह वाक्य परस्पर विरुद्ध वचन विलाससे संगति युक्त नहीं लगता है. वह कैसे ?

भगवानका यह वचन असत्य नहीं है; परन्तु अल्प बुद्धि वाले जीवोंके चितमें यह वात नहीं वैठे यह स्वाभाविक है इस पर एक अलौकिक दृष्टान्त यह है उसके सुननेसे श्रोता-जनोका मन स्थिर होनेकी समभावना है नदीयोंके हद (मूल) मेंसे नदी प्रवाह निकल कर सदाकाल समुद्रमें वह जाता है तो भी न हद खाली होती है न नदी प्रवाह वंद होता है और न समुद्र पूर्ण होता है. इसी तरह भव्य जीव संसारमेंसे नि-

---

* शुकादि मुनि आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार मूल संज्ञाको त्याग करके परब्रह्मरूप सिद्ध हुए हैं— शैवमत.

कल कर मुक्ति मार्गको प्राप्त करते हैं. तो भी संसार खाली नहीं होता है, भव्य जीव कम नहीं होते हैं और न मुक्ति पूर्ण होती है इस दृष्टान्त और दृष्टान्तिकका साम्य (सरखापना) सम्यक प्रकारके अवलोकन करनेवाली अर्हद्वचनमें प्रिति होगी तब होगा, अन्यत्र नहीं. दूसराभी अच्छा दृष्टान्त प्रमाणके जाननेवालोंको गृहण करने योग्य है. कोई बुद्धिशाली पुरुष जन्मसे लगाके मर्ण पर्यन्त तीन लोकके सर्व शास्त्रोका तथा हिंदुओंके छःदर्शन और यवन शास्त्रोंका आत्म शक्तिसे पठन करते हुए असंख्य आयुष्य निंवहन करता है तोभी उसके अश्रान्त पाठसे उसका हृदय कभी भी शास्त्राक्षरोसे पूर्ण नही होगा. शास्त्राक्षर कम नहीं होंगे और शास्त्र खाली कभी भी नहीं होगे इसी तरह संसारमेंसे चाहे जितने भव्य जीव मुक्ति को क्यों न प्राप्त करे ? तो मुक्ति पूर्णावस्थाको नही पहुचेगी भव्य लोग कम नहीं होगे और संसार कभी भव्य रहित नहीं होगा. अर्थात् मुक्ति मार्गका पथ अन्तराय बिना चलू रहेगा इस दृष्टन्त और दृष्टान्तिकको भावनाको विज्ञ लोगोको अपने स्वचितमें स्थान देना चाहिये, तथा दूसरेभी दृष्टान्त इसी तरह समझने चाहिये.

अष्टमोऽधिकारः

परम् ब्रह्मका स्वरूप क्या है ?

परोपकार परायण (तत्पर) वीतराग सर्वज्ञ और सर्वदर्शी परमात्माने परब्रह्मका निवेदन इस तरहसे किया है. परब्रह्म निर्विकार, निष्क्रिय, निर्माय, निर्मोह, निर्मत्सर, निरंहकार, निःस्पृह, निरपेक्ष, निर्गुण, निर्जन अक्षर, अनाकृति, अनंतक, अप्रेमय, अप्रतिक्रम, अपुर्नभव, महोदय, ज्योतिर्मय, चिन्मय, आनंदमय, परमेष्टी, विभु, शाश्वत स्थितियुक्त, रोध विरोध रहित, प्रभासहित, जगत जिसका निसेवन करता है और जिसके ध्यानके प्रभावसे भक्तोंकी निवृत्ति होती हैं वे ईश्वर रूप है.

क्या परब्रह्म सृष्टिका कारण है और युगान्तमें परब्रह्ममेंही जगत् लीन होता है ?

परब्रह्मको सृष्टि रचनेका कोई प्रयोजन नहीं है. तथा उसके लिये उसको कोई *प्रेरने वालाभी नहीं है. यदि परब्र-

---

* काल स्वभावादि सर्व ब्रह्मगत है कर्तृवादी.

ह्मने सृष्टि रची हो तो वह ऐसी क्यों रचे. यह जगत् जन्म, मरण, व्याधि, कषाय, जुगार, काम और दुर्गतिसे व्याकुल है. परस्पर द्रोह और विपक्षसे लक्षित है. वाघ. हाथी. सांप और विछुओंसे व्याप्त है पारधी, माछी और खाटकीसे संचित है चोरी और जारादि विकारोसे पीडित है. कस्तुरी, चामर, दांत और चमडाके लिये हरिण, गाय, हाथी और चिताओंका घातक है. दुर्भिक्ष (दुष्काल) दुमारी और विडम्बरादिसे कलित है दुर्जाति दुर्योनी और कुकीटोंसे पूरित है. विष्टा दुर्गन्ध और कलेवरोंसे अंकित है दुष्कर्मको निमार्ण करनेवाले मैथुनोसे अंचित है. सप्त धातुसे निष्पन्न शरीरसे समाश्रित है प्रचन्ड पाखण्ड घटासे विडम्बित है. नास्तिको सहित सर्व मनुष्योंसे निंदित है वितर्कके सम्पर्कवाले कुतर्कसे कर्कश है. वर्णाश्रमके भिन्न २ धर्म्म और षड्दर्शनके आचार विचार सम्बन्धि आडम्बरसे युक्त है. नाना प्रकारके आकृतिवाले देवताओंकी इसमें पूजा होती है पुन्य और पापसे होते हुए कर्मके भोगको देनेवाला है. स्वर्गापवर्गादि भवान्तरोका इसमें उदय वर्त्तता है. श्रीमन्त और निर्धन, हिन्दु और तरुष्कादि भेदोसे भरा हुआ है. इसमें कितनेक परब्रह्मके साथ वैर धारण करनेवाले हैं और कितनेक परब्रह्म खंडन और हास्य

करनेवाले तथा कितनेक परब्रह्मकी पूजाके रागी जीव है. कारणकि, जो देखा जाता है वह विपरीतही है. परब्रह्मके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न है; विद्वान लोग कहते है कि, कार्यमे उपादान कारणके गुण होन चाहिये. संसारमें जो अनित्य वस्तु दिखती है वह यदि सृष्टि समय ब्रह्ममेसे उत्पन्न हुई हो तो योगी लोग इसको जुगुप्सनीय गीनकर शीघ्र त्याग कर वैराग्य क्यों लेते हैं? यदि द्वेष रागादिसे विरूप जगत्स्वरूप उत्तम योगी लोगोंके त्याग करने योग्य हो तो वेही सर्व युगान्तमें परब्रह्मको अपने अंदर धारण करने योग्य कैसे होते है? इससे यह मालूम होता है कि, चाहे तो परब्रह्ममें विवेक न हो अथवा शुकादि योनियोमें न हो. जो बात ब्रह्मको करने योग्य तथा धारने योग्य है. वह अन्य पुरुष शुकादि योगियोको त्याग करने योग्य है सृष्टि ब्रह्ममेंसे उत्पन्न हुई तथा इसका प्रळयभी इसमे ही होगा ऐसा कहनेवाला ‘ब्रह्म’ अति मूढ है यह क्यों नहीं निवेदन करते? क्या इसमें ब्रह्मको घानताहतिका दोष नहीं लगता? संसारमें एक आद ब्राह्मणकी घात होतो वडी हत्या हुई ऐसा कहा जाता है. तब सृष्टिके संहार कर्त्ता ब्रह्माको वह हत्या कैसी लगे? दयालुको अदयास्वर चित सृष्टिका संहार करते ब्रह्मको हत्या न लगे यह जो कहते हो

तो पुत्रोंको उत्पन्न कर २ के मारने वाले बापको भी कोई दोष नहीं लगेगा. यह तो ब्रह्मकी लीला है इस लिये संहार करनेवाले ब्रह्मको पाप न लगे यह जो कथन हो तो मृगयाको जानेवाले राजाकोभी जीव हत्या करते पाप नहीं लगता है. स्वभावसे अथवा कालसे प्रेराकर सृष्टिका संहार करते विभुको पाप लगता न हो तो और इस अशस्त संहारमें बलिष्ठ स्वभाव और काल ब्रह्मको प्रेरते हो तो सृष्टि संहारमें स्वभाव और कालही हेतु रहने दो. युक्तिमें नहीं बैठे वैसे ब्रह्मका क्या काम है ? जो लोग सृष्टि रचनेका और संहार करनेका ब्रह्ममें आरोप रखते हैं वे ब्रह्मकी महिमा प्रगट नहीं करते हैं; परन्तु निर्दूषणमें दूषणका आरोप करते हैं. ब्रह्मको निष्क्रिय कहकर उसकोही पुनः जगत् रचनेवाला कहना यह मेरी माता वांझनी है इसके सदृश है. जो कोई विज्ञानवंत है वह सर्वत्र ब्रह्मका चिन्तन करता है . जो जीव ब्रह्मांश होगा तो ब्रह्म उनको परिश्रम विना खुदही अपने पास ले जायगा. यदि ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये नीरागता, निःस्पृहता, निर्दयता, निष्क्रियता, जितेन्द्रियता और समानता आदि करने योग्य हो और यदि ब्रह्मकी इसमेंही प्रीति हो तो ब्रह्ममें निष्क्रियत्व सिद्ध हुआ. यदि ऐसा कहनेमें आवे कि, ब्रह्मका स्वभाव ही सक्रिय और

निष्क्रियादि है तो कर्त्ताके अनेक स्वभावकी वजहसे कदाचित इसमे अनित्यता, द्वेष, राग हो ! दृष्टिसे भी यही दिखता है ! ! ब्रह्म नित्य है. इस पंचायव* वाक्यसे व्याप्त (ज्ञान) भी न हो ! नित्य वही है जो एक स्वरूप है, जैसे आकाश. सृष्टि रचनेमें और युगान्तमें संहार करनेमें कर्त्ताको मनःस्थ सक्रियता अच्छी तरह मालूम होती है ! सृष्टि संहारके अभावमे निष्क्रियता रहती है !! तथा जीवोको सुख दुःख दिखता है इससे इसमें राग द्वेषभी सिद्ध होता है ! यदि यही तर्क होकि, जैसा कृत्य वैसाही सुख दुःख तो फिर कर्त्ताका क्या पराक्रम ? इस परसे यह निश्चय हुआ कि, स्वपुण्य पापही सुख दुःखके हेतु हैं. यदि जीव ब्रह्मांश हो तो ब्रह्मांश एकसे होनेसे वे सब एक बरोबर हैं. बहुत प्रकारके जीव सुखी और दुःखी दिखते हैं तब इन भेदका करनेवाला ब्रह्मसे कोई अन्य निश्चय होना चाहिये. यदि जाव ब्रह्मसे भिन्न हो और सुख दुःखका कर्त्ता ब्रह्म हो तो वह जिस हेतुसे सुख

---

* १ ब्रह्म नित्य है. २ एक स्वभावत्व होनेसे. ३ जो एक स्वभाव वाला हो वह नित्य, जैसे आकाश. ४ ब्रह्म वैसा है. ५ इस लिये ब्रह्म नित्य है.

दुःख करता है वह हेतु (पुण्य पाप) का कर्त्ता भी वह (ब्रह्म) ही हो! ब्रह्मको निरञ्जन, नित्य, अमर्त और अ-क्रिय कहकर फिरसे उसको ही कर्त्ता, संहर्त्ता और रागद्वेषादि का पात्र कहना यह परस्पर विरुद्ध होनेसे यह जगत भिन्न है और यह ब्रह्मभी भिन्न है. यह मुनियोंका कथन है और इससेही संसार स्थित मुनि मुक्तिके लिये परब्रह्मका ध्यान करते हैं.

* जो कोई ईश्वर (विष्णु) की मायाको जगत्की रच-नामें हेतुभूत कहते हैं उनको यह विचार करना चाहिये कि, ईश्वर मायामें आश्रित है या माया ईश्वरमें आश्रित है? माया जड होनेसे अपने आप आश्रय लेनेको समर्थ; नहीं है. ईश्वर ब्रह्मरूप होनेसे मायाका आश्रय नहीं लेता है कारणकि चेतन परतन्त्र हो तो ही जडका आश्रय लेता है. पुनः विचार कर-नेका यह है कि, ईश्वर मायाको एक ही समयमें प्रेरता है या हरएक जीवप्रति पृथक २ प्रेरता है? यदि माया एकही सम-यमें प्रेरनेमें आती हो तो उसके एक रूपताकी वजहसे तीनो लोक एक स्वरूप सर्व सुखमयी अथवा सर्व दुःखमयी होवे,

---

* विष्णुकी मायासे जगतकी रचना होती है वैष्णवमत.

भिन्न रूप न होवे. यदि मायाको हरएक जीव प्रत्य पृथक २ प्रेरनेमें आती हो तो मायाको अनंतता प्राप्त हो जिससे माया अनेक प्रकारकी होवे और जीवभी भिन्न २ रूप होवे. ऐसा कभी कहनेमें आवे तोभी माया जड है वह क्या कर सकती है? ईश्वरकी शक्तिसे माया सब कुछ करनेको समर्थ हो तो ईश्वरही सुख दुःखका दाता होता है! अच्छा जीवोने ईश्वरका क्या अपराध किया है कि वह हरएक जीव प्रती एसी माया को प्रेरे? निरापराध जीवोको इस प्रकार दुखादि दे वह ईश्वर कैसा? जो ईश्वरका ध्यान नहीं करते हैं वे ईश्वरके अपराधी होनेसे ईश्वर उनको दुःख करता है और जो ईश्वरकी सेवा करते हैं उनको सुखकी श्रेणि देता हो तो वह ऐसी प्रतिक्रिया करनेवाला ईश्वर तो रागी द्वेषी गिना जाता है . जो ईश्वरको न निंदता है और न वंदन करता है उसकी क्या दशा होगी. संसारमें जीव तीन प्रकारके है. सेवक, असेवक और मध्यम, जब पहिले दो प्रकारके जीवोंकी गति है तो मधस्थ जीवकीभी कोई गति अवश्यमेव होनी चाहिये. मध्यस्थ जीवकी कोई गति है तो उसका कर्त्ता कौन है ? तब यही कहना बहतर होगा कि, जैसा कर्म किया है वैसाही सुख दुःख मिलता है.

यदि कोई कहे कि, ईश्वर कर्त्ता अपनेमेंसे जीवोंको प्रगट करके संसारिभाव वताता है और महा प्रलयके समय वापिस इसका संहार करता हैं इसके जवावमें यह पूछनेका है कि, ईश्वर विद्यमान जीवोंको प्रकट कर्त्ता है या नये जीवोंको ? यदि प्रथम पक्ष है तो यह वात श्रवण करो ! यदि जीवोंको इष्ट स्थानमें रक्खकर क्रियावसरपर प्रगट करे तो वह अपने जैसा अवसर न मिलनेके भयसे रक्षा करने वाला होना चाहिये इस परसे तो ईश्वरमें अशक्ति मालूम होती है यदि ईश्वरकी अचिन्त्य शक्ति है तो क्या वह लोभी है यह कहना मांगते हो ? यदि नये जीवोंको रचकर संसारी भाव वताता हो तो मूलके स्वरचित जीवोंको मुक्त करनेको क्या समर्थ नहीं है कि, जो इस प्रकार विडम्बना देता है ? यदि ईश्वर स्वराचितका भी इस तरहसे संहार करे तो यह इसका कैसा विवेक ? वालकभी स्वकृत वस्तुको वने जहांतक अच्छी तरह रक्खता है.

यदि ईश्वरकी यह लीला हो तो लीला करने वाले लोगोकी भी निंदा करना उचित नहीं है तप, यम, ध्यान प्रमुखसे यदि ईश्वर लभ्य हो और ईश्वरको यह रुचता हो तो

जिसको यह रुचे वह कदापि ऐसी लीला नहीं करे संसारमें भी जीवादिका जिसमें घात होता हो वैसी सब लीलाओंका ईश्वरने निषेध किया है. दूसरोंको निषेध करे और खुद आचरण करे यह जो अतीव निंदित होता है वहही करता है इस प्रकार विचार किये विना काम करनेवालेको हम ईश्वर नहीं कहते हैं. यदि खुद ईश्वर पवित्र, स्वजनको पावन करने वाला और ज्योतिर्मयादि गुणोंसे विशिष्ट होनेपरभी यह स्वअंशोको स्वरससे विमोह पाडकर संसारिभावमें रचकर बहुत दुःखका पात्र जीवत्व प्रेरता हो तो यह जीव ईश्वरांश नहीं है. दूसरे चाहे क्यों न हो ! ईश्वर निजांशोको जानता हुआ अपने रम्य स्वरूपमेंसे निकालकर जिसके उदरमें संकटकी सन्दूक है वैसे दौर्गत्य दौस्थ्यादिमय (दुर्गति और दुःस्थितिवाले) इस संसारमें सहसा कैसे प्रेरे ? यदि ईश्वरकी यह लीलाहोतो यह संसारही इसको इष्ट है तब संसारी जीवोको ईश्वरकी प्राप्तिके लिये उग्र कष्टादि क्यों कर करने चाहिये ? इस प्रकार असंबद्ध उद्गार निकालने वाले वचनकी कदापि प्रतीति नहीं होती है.

तब क्या कहनेका है ?

जो कुछ कहनेका है उसे धियान देकर सुनो. ज्योतिर्मय, चिन्तमय, सदा एक स्वरूप, लोगोंके सुख दुःखका हेतु जो देखता है और योगीश्वरोको जिसका स्वरूप ध्येतम है वे परमात्मा हैं. जीव तथा प्रकारके कर्मके योगसे सुगति अथवा दुर्गति, सुख अथवा दुःख पाते हैं जब जीव समान भावको धारण करता है तब ब्रह्मत्वको प्राप्त हाता है परमेश्वरके विषयमें सृष्टि सहारकी कथाकी प्रवृत्ति करनेसे यदि लोगोंकी तुष्टि होती हो तो स्फुर्ति और प्रभावका प्रतिपादन करनेके लिये ईश्वरकी स्तुति करना योग्य है. परमेष्टि परमेश्वको कर्त्ता कहना योग्य नहीं है जैसे संसारमें कोई शूरवीर अपने स्वामीके शस्त्रोंसे शत्रुओंको जीतकर निज अंगमें सुख करनेसे कर्त्ता होता है तथा परमेश्वरका ध्यान करने वाला परमेश्वरके ध्यानसे आत्माका सुख करनेसे कर्त्ता है, और आत्माके अंधकारको अपहार करनेसे सहर्त्ता है. जैसे शूरवीरके शस्त्र काममें लानेसे शस्त्रके स्वामीको कुछभी प्रयास नहीं करना पडता है तथा भक्तको ईश्वरका ध्यान करनेसे ईश्वरकोभी कुछ क्रिया नही करनी पडती है इससे ईश्वरकी निष्क्रियता सिद्ध होती है.

जैसे शुरवीर शस्त्रके प्रभावसे सुख होनेसे सुख करनेवाला शस्त्रका स्वामी कथन करे इसी प्रकार भक्तभी ध्यानके प्रभावसे सुख होनेसे सुख करने वाला ध्यानके स्वामी-परमेश्वरकोही कहते हैं इस प्रकार अनेक दृष्टान्तोंसे परमेश्वरका ध्यान करने वाले भक्तको सृष्टि संहारका कर्त्ता प्रतिपादन किया जा सकता है.

नवमोऽधिकार.

ब्रह्म अर्थात् क्या ?

ब्रह्म वही है जिसको सिद्ध कहते है. शुद्ध चितवाले मुनियोंको जो ध्यान करने योग्य है और मुक्तिगृह प्रति जा-नेकी इच्छावाले योगी लोग जिसको भव समुद्रमें *प्रवहण समान गिनते हैं.

---

* जिस तरह प्रवहणकी मददसे समुद्रके किनारे पहुंच सकते हैं परन्तु गृह जानेके लिये प्रवहणको छोडकर चलना आदि स्वालम्बन करना पडता है इसी तरह सिद्धके ध्यानसे संसारको पार पासकते है परन्तु मुक्तिमें पहुंचनेके लिये सिद्धका ध्यान छोडकर समभाव लक्षण आत्म ध्यान करना पडता है पर्यायकार.

यदि यह सृष्टि ब्रह्ममेंसे उत्पन्न नहीं हुई है. तो वह कहां से उत्पन्न हुई और कहां प्रलय होगी ?

त्रिकाल ज्ञानी वीतराग योगियोंने कथन किया है, कि, काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम (वीर्य) इन समवाय पंचकसे सृष्टि और संहार होता है.

पुरातन तत्त्वविद् महात्मा लोगोंका कथन है. कि, ब्रह्ममें ब्रह्म लीन होता है और ज्योतिमें ज्योति मिल जाती है. यह प्रवाद (कथन) ब्रह्म विना कैसे घटे ?

विज्ञ लोग ज्ञानको ब्रह्म अथवा ज्योति कहते हैं. एक सिद्धका ब्रह्म (ज्ञान अथवा ज्योति) सर्व दिशाओंमें अनंत क्षेत्रको आश्रकर रहा है. उन्ही क्षेत्रोंको आश्रकर दूसरे सिद्ध का जीव तीसरे सिद्धका यावत् अनंत सिद्धोंकाभी ब्रह्ममें रहा हुआ है. और इस परसे यह कहा जाता है कि, ब्रह्ममें ब्रह्म लीन होता है. और ज्योतिमें ज्योति मिल जाती है.

यदि ऐसा होता तो क्षेत्रका सांकार्य कैसे न हो तथा परस्पर आलिंगित ब्रह्मको संकीर्ण कैसे न हो ?

जिस तरह किसी विद्वानके हृदयमें वहुत शास्त्राक्षरोंका संग्रह होनेपर छाती संकीर्ण नहीं होती है. तथा अक्षरोंको परिपिण्डता नहीं होती है इसी तरह ब्रह्म परम्पराश्रित ब्रह्म (चिद्) से सर्वत्र आश्लिष्ट क्षेत्र (दिव) संकीर्ण नहीं होता है और ब्रह्मको सांकीर्य नहीं होता है इसी प्रकार सिद्धोंसे परिपूरित सिद्धक्षेत्र संकीर्ण नहीं होता है. और सिद्धान्त परम्पराश्रित सिद्ध सांकीर्णपन रहित जयवंत वर्त्तते हैं.

दसमोऽधिकार.

१ निगोद जीव अनंत काल तक निगोदमेंही रहते हैं नारकीजीवोंके दुःखसे अनन्त गुणा दुःख उनको भोगना पडता है और अल्प समयमें अनेक वार जन्म मर्ण करना पडता है उनके * मनभी नहीं होता है जो जीव व्यवहार

---

१ निगोदके जीव दो प्रकारकी राशियोंमे हैं अव्यवहार और व्यवहार उनमें निगोद संज्ञासे सामान्यतः अव्यवहार राशिको ग्रहण करते हैं.

* सर्व एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवोंके मन नहीं होता है. पंचेन्द्रिय जीवोंमें संज्ञी है उनके मन होता है, असंज्ञीके मन नहीं होता है—जैन सिद्धान्त.

राशीमें आते हैं वे क्रमसे विशिष्ट होते हैं व्यवहार राशीमें से जो जीव वापिस जाते हैं वे फिर निगोद जैसे उत्पन्न होते हैं यह किस तरह होता है ?

निगोदके जीव अपने जाति स्वभावसे और माहार्तिदा-यक उत्तर कालकी तादृश प्रेरनासे सदैव दुःख पाते हैं. अत्र दृष्टान्त यह है कि, लवण समुद्रका पानी सदा खारा होता है अंनत कालमें भी पीने योग्य नहीं होता है तथा वर्णांतरको भी नहीं प्राप्त होता है. लवण समुद्रको अपनी इसी हालतमें अनंतान्त काल होगये जिसतरह लवण समुद्रका पानी मेघके मुखसे प्राप्त होनेपर गंगादि महा नदीमें आनेसे पीने योग्य होता है. इसीतरह निगोदमेंसे निकलकर व्यवहार राशिमें आये हुए जीव सुखी होते हैं जैसे गंगादि महानदीका पानी लवण समुद्रमें वापिस जानेसे समुद्र जल रूप और रस युक्त कडवा होता है. वैसेही व्यवहार राशिमेंसे निगोदमेंसे वापिस गये हुए जीव निगोद जैसे दुःखी होते हैं. दूसरा दृष्टान्त दुर्मान्त्रिक—के हृदयमें दुर्मन्त्रके जो वर्ण होते है वे उच्चाटन कहलाते हैं. दुर्मान्त्रिकके हृदय जैसा निगोदका स्थान है दुर्मन्त्रके जीव जैसे निगोदके जीव हैं. सन्मन्त्रके वर्ग जैसे

व्यवहार राशिके जीव हैं. जिसतरह दुर्मन्त्रमेंके वर्णोमेंसे जो वर्ण सन्मंत्रमें आवे वे शुभ कहलाते हैं. इसी तरह निगोदके जीवोमेंसे जो व्यवहार राशिमे आते हैं व विशिष्ट होते हैं जैसे सन्मंत्रमेंके वापिस दुर्मन्त्रमें स्तेमाल हो उच्चाटन दोषसे दुपित होते हैं वैसे ही व्यवहार राशिमें से निगोदमें वापिस आयेहुए जीव निगोदके सदृश होते हैं पंडितलोगोको स्वबुद्धिसे इस प्रकार दृष्टान्त योजना चाहिये.

निगोदके जीव समस्त लोकमें व्याप्त हैं वे घनीभूत (गोलाका आकार) होने पर दृष्टि पथमें क्यों नहीं आते हैं ?

निगोदके जीव अति सूक्षम नाम कर्मके उदयसे एक शरीरको आश्रकर अनंत होते हुए भी नहीं दिखते हैं जिस तरह कलेवर और हिंग आदिकी गंध परस्पर मिलनेसे अन्य वस्तु अथवा आकाशमें सकीर्णता नहीं होती है. तथा निगोद जीवोके परस्पर आश्लेपसे उन खुदको सदा काल आते हरकत रहती है, परन्तु अन्य वस्तु तथा आकाशको संकीर्णता नहीं होती है जिस तरह गंधादि वस्तुकी सत्ता नाकसे जानी जाती है; परन्तु आंखसे नहीं देखी जाती है. इसी तरह निगोद

के जीव श्रीजिन वचनके प्रभाव से मनसे जाने जाते हैं परन्तु देखे नही जा सकते हैं. केवल ज्ञानी सिरफ उनको जान सकते हैं. जिस प्रकार सर्वत्र उडती हुई अति सूक्ष्म रज नही दिखती है और राशिभूत होती हुई भी नहीं जाती है; परन्तु आच्छादित वस्त्र प्रदेशके छिद्रमें पडेहुए कीर्णोके प्रतिबिम्बमें उडती हुई त्रस रेणु दिखती है इसी तरह निगोदके जीव दिव्य दृष्टिसे देखे जाते हैं.

निगोदादिके जीव आहार करने परभी किस गुणकी वजहसे गुरूताको प्राप्त नहीं कर सकते हैं. ?

पारा जिसतरह विविध धातुओंको खाने परभी गरिष्टताको प्राप्त नहीं होता है, चम्पाके पुष्पोंसे वासित अथवा कृष्णगरू धुपसे धुपित वस्त्र मूलभारसे गुरूताको प्राप्त नहीं होता है एक तोला सिद्ध किये हुआ पारा सौ तोले सोना पचाने परभी उसका तोल नहीं बढ़ता है. अथवा *परनालके अदर पवन भरने परभी उसका वजन नहीं बढ़ता है ठीक वैसेही जीवभी आहार करता हुआ गुरुतामें नहीं बढता है.

निगोदके जीव कौनसे कर्मसे अनंतकाल तक अति दुःखित होते हैं ?

इस विषयमें सम्पूर्ण विचार ज्ञात करनेको केवली शिवाय कोई समर्थ नहीं है तो भी इनका आशय समझानेके लिये किंचित कर्म प्रकार कहनेमें आता है. निगोदके जीव स्थूल आस्रव सेवनेके लिये समर्थ नहीं हैं. परन्तु वे एक २ को छेद करके एक २ शरीरके अनंत आश्रित हैं पृथक २ देहरूपी गृहसे रहित हैं परस्पर द्वेषके कारण भूत तैजस कार्मण शरीरसे संस्थित हैं और अत्यन्त संकीर्ण निवास मिलनेसे अन्योन्य भेदके निकाचित वैर बांधते है और वह प्रत्येकके लिये उग्रपनमें अनंत जीवोंके साथ कारण भूत होता है. जब कि, एक जीवके साथ बांधाहुआ वैर अविजय है तब जीवने जो अनंत कालतक जीवोंके साथ वैर बांधाहुआ अनंत कालतक कैसे न भोगा जाय ? पुनः उस वैरकी वृद्धि होनेसे उससेभी अधिक कालतक कैसे न भोगा जाय ? अर्थात् निगोद जीवोंका वैर दुष्कर्म और इनके भोगनेका अनंत काल है. गुप्तिगृह-(कैदखाना) में पडेहुए कैदी जिसतरह परस्पर समर्दनसे पीडाते हुए भी यह खियाल करते है कि, अपने साथियोंमेंसे कोई मरे अथवा जाय और अपने लिये भक्ष्य अधिक प्रमाणमें मिलनेकी तथा सुखसे बैठनेकी दुष्ट भावना भोगते हैं और

इससे एक २ प्रति निकाचित अत्यन्त वैर पूर्वक कर्म बांधते हैं तथा उनकी वृद्धिसे उनको अति दुष्कृत लगता है इसी तरह निगोदके जीवोंके कर्म बंधनके विषयमें जानना चाहिये देखो! अति संकीर्ण पंजिरेमें बंध कियेहुए पक्षी और जलादिमें पकडीहुई मच्छली परस्पर दुःखसे द्वेष युक्त होनेपरभी अति दुःखी होती हैं. बुध कहते है कि, चोरका मारा जाना और सतिके अग्निमें प्रवेशके कतुहलसे देखने वाले आदि द्वेषके भी समुदायी कर्म बांधते हैं और बांधेहुए कर्मोको चाहे जिसप्रकार से भोगने पडते हैं इस प्रकार कौतुकसे बंधेहुए कर्मोका विपाक अति दुःखदाई होता है तो फिर निगोदके जीवोंके परस्पर बांधा जन्म विरोधसे अनंत जीवोंके साथ बांधेहुए कर्म का भोग अनंतकाल होने परभी पुर्ण न हो इसमें क्या आश्चर्य है?

निगोदके जीवोंके मनन होने परभी वे तंदुल मत्स्यके सदृश अथवा जिसका परिपाक अनंत कालतक पहुंचे वैसे कर्म क्यों कर बांधते हैं?

निगोदके जीवोंके मन न होनेपरभी अन्योन्य पीडासे उनके दुष्कर्म तो उत्पन्नही होता है? विषको चाहे जान्ते हुए

खाया हो अथवा अज्ञानसे खाया हो तो भी वह मारताही है. यह बात जानते हो तो खुद अथवा दूसरा चकित्सा करे कि, जिससे कदाचित बचनेका संभव हो सकता है; परन्तु अज्ञान पन तो मारही डालता है. इसी तरह मन विना परस्पर उत्पन्न हुआ वैर अनंत काल भोगने परभी पूरा नहीं होता है. निगोदके जीवोंके मन नहा है परन्तु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और काय योग होता है जो कर्म योगका बीज है.

एकादशमोऽधिकारः

सर्व विश्वनिगोदके जीवोंसे परिपूर्ण है इसमें कर्म अन्य पुद्गल शरीर और धर्म्मास्तिका यादि कैसे समावेश होते हैं ?

जिस प्रकार गांधीकी दुकानमें कापुर, कस्तुरी, जायफल और पुष्पकी सुगंधी, सुर्यका ताप, धुपका धुम, वायु, शब्द, त्रस रेणु आदि समावेश होते हैं; इसी तरह पुरुषके हृदयमें शास्त्र पुराण होते हैं तोभी वेद, स्मृति, व्याकरण, कोष, ज्योतिष, वैद्यक, आशिष, राग, मंत्र आम्नाय (परम्परागत

विधान). ध्यान, मंत्र, तंत्र, कलावार्त्ता विनोद, स्त्री विलास दान, शील, तप, भाव, क्षान्ति, (क्षमा) धृति, सुख, दुःख सत्व, रज तम, कषाय, मैत्री, मोह, मत्सर, शंका, भय निर्भय आधि आदि समावेश होते हैं; जिसतरह वनखंड—जंगलमें रेणु, त्रसरेणु, सुर्यकी गर्मी, अग्निकी गर्मी, पुष्पकी सुगंधी, वायु, पशु, पक्षीके शब्द, वादित्रके नाद, पत्तियोंकी खडखडाट आदि सर्व समावेश होते है इसी प्रकार सर्व लोक निगोदसे सदा परिपूर्ण होने परभी सर्व द्रव्यका समावेश इसमें होता है इतनाही नहीं परन्तु द्रव्योंसे निचित होते हुएभी तादृश आकाश रहता है.

द्वादमोऽधिकारः

जगत्के जीव कर्मके मुताबिक सुख दुःख भोगते हैं. कर्मगणको प्रेरणा करने वाला कर्त्ता विधि, ग्रह, यम, परमेश्वर अथवा भगवान कोई अवश्य होना चाहिये. जीव स्वभावसे ही सुखका रागी और दुःखका द्वेषी होनेपर भी वह स्वेच्छासे शुभ और अशुभ कर्मोंको कैसे भोगता है ?

जीव स्वभावसेही शुभाशुभ कर्मोंको गृहण करता है. स्वकर्मके विना जीवको सुख दुःख देनेवाला और कुछभी नहीं है. कर्मके सिद्धान्तको जाननेवाले कर्मकोही भाग्य, स्व-भाव, भगवान, अदृष्ट, काल, यम, दैवत, दैव, दिष्ठ, विधान, परमेश्वर, क्रिया पुराकृत, विधा, विधि, लोक, कृतान्त, नियति, कर्त्ता, प्राक्कीर्ण खेल, प्राचीन खेल, विधाताके लेखादि नामसे शास्त्रमें प्रतिपादन किया है.

कर्मको कोई प्रेरने वाला अवश्य होना चाहिये, कर्म अजीव और जड हैं वे क्या कर सकते हैं ?

कर्मका यह स्वभाव है कि, वे किसीकी प्रेरणा विना अपने आपही आत्माको स्वभाव रूप योग्य फल देते हैं वे जीव जो अब अजीव शरीरके साथ संबंध रखते हैं और जीते हैं. पहिले जिन्दा थे और भविष्यमें जिन्दा होंगे. उन सबके साथ कर्मोंका त्रिकालिक संगम धियानमें रखना ही अच्छा है इस समस्त जगत्में षड द्रव्य और समवायमके विना कुछ नहीं है. जीव और धर्मास्तिकायादि पांच अजीव ये छः द्रव्य हैं. धर्मास्ति काय जीवकी चलनेमें सहायता करता है, अ-धर्मास्तिकाय स्थिति करनेकी प्रेरणा करता है. आकास्तिका-

यका अवकाश देता है और पुद्गलास्तिकायसे जीव अहार विहार करता है पुद्गलास्थिति कायमें कर्मोंका अंतर्भाव होता है. काल आयुष्यादि सर्व प्राण युक्त वस्तुका प्रमाण करनेमें उपयोगी है. कालादि पंच समवायके सामर्थ्यसे जीव कर्मोंका गृहण, धारण, भोग और शमन करता है अर्थात् आत्माकी अजागृत दशामें जीवोंसे अजीव सबल है. जिनसे प्रेराकर जीव सुख दुःखके भागी होते हैं. जीव शुभाशुभ कर्मोंका गृहण करता है और कर्म स्वकाल मर्यादाको प्राप्त करके जीवोंको सुख दुःख देता है—यहही इसका स्वभाव है.

जीव शूभाशूभ कर्मोंको गृहण करता है और गृहण करनेके स्वभावसे वह गृहण करते समय यह जानता है कि स्वाभिप्रायके मुताबिक इष्ट करता हूं. यह वात मानने योग्य है; परन्तु कर्म जड होनेसे भोग कालको कैसे जानेकि, जिससे प्रगट होसके ? क्या आत्माभी दुःख भोगनेका कामी है जिससे कि, वह दुष्कर्मको आगे करता है ? अतएव वहुत लम्बे असेंतक विलम्ब किये वाद् कर्म्म स्वकर्त्ता जीवको सुख दुःख देते हैं यह वात प्रेरक बिना कैसी हो सकती है ?

कर्म जड होनेसे निज भोगकालको नहीं जानते हैं और आत्मा दुःख भोगनेका कामी नहीं है तथापि दुःख जीवके आधिन होता है और कर्म जड होने परभी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-सामग्रीकी तथा प्रकारकी अनिवार्य शक्तिसे प्रेराकर तथा प्रगट होकर स्वकर्त्ता आत्माको बलात्कारसे दुःख देता है जैसे कोई पुरुष उष्णकालमें शीतल वस्तुका सेवन करे और उसपर मीठा खटा करंभ खाय तो उसके शरीरमें वायु उत्पन्न हो जो. यदि वर्षा ऋतु प्राप्त होतेही प्रायः अत्यन्त कोपायमान होकर शरद् ऋतुका संभोग होनेके साथ ही पित्तके प्रभावसे प्रायः शान्त होती है. स्वेच्छित भोजनसे वात (वायु) की उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति और शान्ति (नाश) इन तीन दशाओंके होनेमें जिसतरह काल हेतुभूत है. इसी तरह आत्माके कर्मोंका गृहण, स्थिति और शान्ति होनेमे काल ही कारण है. इस प्रकार आत्माके उपार्जन कियेहुए कर्म कालसेही भोग और शान्त होते हैं. तोभी जिस तरह उग्र उपाय से काल प्राप्त होते पहिले ही वातादि शान्त होते हैं उसी तरह कर्मभी शान्त होते हैं और कितनेक समय स्वादिष्ट भोजन शरीरमे तत्काल उग्र वातादि उत्पन्न करता है ठीक उसीके

सदृश उग्र कर्म्मभी आत्माको किसी भी प्रकारकी प्रेरणा बिना शीघ्र फल देते हैं. दूसरा दृष्टान्त-दूसरेकी प्रेरणा बिना कोई स्त्री स्वेच्छासे पुरुषके साथ संभोग करे और उसका परिपाक काल पूर्ण होनेपर प्रसव होते समय जिसतरह उसको सुख अथवा दुःख होता है उसीतरह जीवके कियेहुए अच्छे अथवा बुरे कर्म किसीकी भी प्रेरना विना स्वसमय पाकर प्रगट होतेही जीवको सुख अवथा दुःख देते हैं. रोगी औषधी लेते समय यह नहीं जानता है कि, यह हितकारी है अथवा अहितकारी, तोभी औषधीका परिपाक काल पूर्ण होनेपर यह सुख अथवा दुःख देती है. इसी प्रकार कर्मोंके गृहण करते समय जीव यह नहीं जानता है कि, ये शुभ हैं वा अशुभ हैं. तोभी उनका परिपाक काल पूर्ण होनेपर वे सुख अथवा दुःख देते हैं कृत्तिम विष जिस प्रकार शीघ्र नाश करने वाला, अथवा एक, दो, छः महीनेमें अथवा एक, दो और तीन वर्षमें नाश करनेवाला है उसी तरह कर्म्मभी बहुत प्रकारके तथा भिन्न२ स्थितिवाले होते हैं जो अपने कालके प्राप्त होतेही अपने आपही करनेवाले जीवको तादृश फल देते हैं. शुद्ध अथवा अशुद्ध पारा किसी रोगीके खानेमें आवे उसके परिणाम काल के प्राप्त होनेपर वह रोगी सुख अथवा दुःख पाता है. शरी

रमें फुंसी, नारु, शीतांगक और सन्निपातभी काल बलको प्राप्त करके अपने आपही उन २ रोगोंसे मुक्त जीवोंको दुःख देते हैं और सर्व ऋतुएं अपना काल प्राप्त करके मनुष्यलोक वर्ती प्राणीयोंको सुख दुःख देते हैं ठीक वैसेही कर्मभी अपना काल प्राप्त करके दूसरेकी प्रेरणा विना आत्माको सत्वर सुख दुःख देते हैं, शीतळा, ओरी और अच्छवरादि बाल रोग की गर्मीका असर छः महीनेतक रहता है ठीक उसी तरह कर्मभी अपने आप आकर स्थितिके प्रमाणमें जीवका आश्रय लेते है. जिस क्षय, अक्षिविन्दु, उद्धत, पक्षघात अर्धांग और शीतांगादि रोगोंका परिपाक हजार दिनमें शास्त्र विशारद (शास्त्रमें प्रवीण) वैद्यज्ञान वलसे जानते हैं इसी प्रकार सैद्धान्तिकमें हस्ति समान पंडितोने कर्मका परिपाक कालके विषयमेंभी कहा है. पित्तसे आया हुआ ज्वर दश दिन, कफसे वारह दिन, वातसे सात दिन और त्रिदोषसे पंदरह दिन तक रहता है अर्थात् जिसतरह इन ज्वरोंका परिपाक काल भिन्न २ है इसी प्रकार कर्मोंकाभी स्थिति काल अलग है आत्माने जैसा पहिले आचरण किया हो ठीक उसीके सदृश जन्म कुंडलीमें ग्रह आते हैं जिसतरह उन ग्रहोंका फल महा-दशा और अंतरदशा सहित स्वस्थितिके मुताबिक किसीकोभी

प्रेरणा विना स्वभावसेही भोगा जाता है. इसी प्रकार अन्य कर्मोंसे अन्तरित जो कर्म आत्माने किये हो उनके फल परिपाक काल प्राप्त होनेपर किसीकीभी प्रेरणा विना भोगे जाते हैं ?

कर्म कैसे उदय होते हैं ?

कर्मचार तरहसे भोगे जाते हैं पहिला– यहां कियाहुआ अच्छा अथवा बुरा यहांही उदयमें आता है जैसे किसी सिद्ध पुरुष, साधु पुरुष अथवा राजाकी दी हूई स्वल्प वस्तुभी लक्ष्मी प्राप्तिका कारण भूत हो सकती है. चोरी सदृश अशस्त काम यहांही नाशत्वके लिये होते हैं दुसरा–यहां किया हुआ कर्म परलोकमें उदयावस्थाको प्राप्त होता है. तप व्रतादि प्रशस्य (तारीफ करने योग्य) आचरणसे देवत्वादि प्राप्त होता है. और इससे विरुद्ध आचरण करनेपर नर्कादिमें जाना पडता है *तीसरा परजन्ममें कियाहुआ कर्म इस जन्ममें सुख दुःख देनेवाला होता है जैसे एक पुत्रका जन्म होनेपर उसके

---

* सतीका सतित्त्व और शूराका शौर्य परजन्ममें स्वभावसेही होते हैं लोकोक्ति.

किये हुए कर्मको वजहसे दारिद्र और माताका वियोग होता हैं और उसकी जन्म कुंडलीमें ग्रहभी अच्छे नही पडते हैं चोथा-परजन्ममें कियाहुआ कर्मपर जन्ममें फलदायी होता है अर्थात् इस भव कियाहुआ कर्म इस भवम अथवा दूसरे भवमें नहीं परन्तु तीसरे भवमें आत्माको फलदायी होता है. जैसे इस भवमें उग्र तप करनेवालेने पहिले भवमें मनुष्य, देव, अथवा तिर्यंच आदिके भवका कर्म आयुष्य बांधा होतो व्रतके प्रभाव से दीर्घायुष्य सहित भोगने योग्य वडा फल उसको इस भवके आनेवाले भवमें द्रव्यादि सामग्री प्राप्त होती है. किसी पुरुषने किसी वस्तुको खुद कामसें आनेका ख्याल करके उस दिन मौका देखकर अधिक काममें न लाकर अच्छीं तरह रक्खी हो वह जिसतरह दुसरे समय काममें आ सके इसी तरह कर्मकोभी समझना चाहिये. ऊपर माफिक चतुर्भङ्गी से स्वकर्म भोगे जाते हैं ऐसा आप्तवचन है. कर्मका स्वरूप यथार्थ निवेदन करनेको केवली विना कोई समर्थ नहीं है.

कर्मोंकी कितने प्रकारकी अवस्था होती है ?

कर्म तीन प्रकारकी अवस्थावाले होते हैं. भुक्त, भोग्य और भुज्यमान. शुभ और अशुभ सवके लिये ये वरोवर

समझना चाहिये पृथ्वी पर पडके सुके हुए वर्षाके विन्दु समान भुक्त, पृथ्वीपर अब पडनेवाले और सुकजाने वाले विन्दु समान भोग्य कर्म, पडते २ सुकने वाले विन्दु समान भुज्यमान कर्म समझने चाहिये. अर्थात् मुंहमें गृहण कियेहुए आहारके ग्रासके नाई भुक्त कर्म, गृहण करनेके ग्रासके नाई भोग्य कर्म और गृहण करनेवाले ग्रासके नाई भुज्यमान कर्म समझने चाहिये. व्रती अथवा अव्रती सर्व संसारी जीवोंके भुक्त, भोग्य और भुज्यमान कर्म होते हैं. केवल ज्ञानी महन्तोके वंधाते कर्म शिलाग्र (पत्थरके खडककी टोप) पर पडते वर्षादके विंदुके सदृश अल्प स्थिति वाले हैं, और उसमेंभी तीन अवस्था होती हैं. अंतके पहिले समयमें केवल ज्ञानीके भोग्यकर्म नहीं होते हैं. भुक्त और भुज्यमान कर्म होते हैं और अन्त समय तो सर्व कर्मोका क्षय करनेसे सिरफ भुक्त कर्म होते हैं. कर्त्तादि दूसरेकी प्रेरणा विना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके स्वभावसे कर्मकी भूक्तादि तीन दशाएं होती हैं. सिद्धात्माओंके कर्मोका पहिले नाश करनेसे उनके लिये ये दशा नही होती है. भूक्तकर्म दशामेंभी केवलज्ञान हो तो उसको भवके अंत समय तक समझनी चाहिये, सिद्धावस्थामें नहीं होती है. कर्म संवंधी इस विचारसे सामान्य लोग प्रतिबोध-

न्वको प्राप्त हो इस लिये लोक प्रसिद्ध दृष्टान्तोंसे कहागया है. प्रवीण पुरुषोंके लिये प्राचीन युक्तियोंसे समझलेना काफी होगा. दूसरेकी प्रेरणा विनाकर्म भोगके विषयमे ऐसे अनेक उदाहरण हैं उन पर विचार करो.

—※✿✿※—

त्रिशोदशमोऽधिकारः

कितनेक कहते हैं कि पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क, मोक्ष और पुनर्जन्म ये मनसे गृहण नहीं हो सकते हैं परन्तु पांचो इंद्रिएं के प्रत्यक्ष विषय शिवाय अन्य प्रमाण मानने योग्य नहीं हैं. यह क्या युक्तिमत है ?

जो वस्तु दृश्य (इन्द्रिय गोचर) हो वही सत् और दूसरी असत् यह मान्यता योग्य नहीं है विचार करो कि, ऐसी कौनसी वस्तु है जिसमें पांचों इन्द्रियोंका विषय हो, यदि कोई कहे क्या रामादि (स्त्री आदि) वस्तुमें सब इन्द्रियोंका विषय नहीं है ? तो इसपर यह विचार करनेका है कि, रात्रिके समय शब्दरूपके सदृशभी रामादि वस्तु नहीं है उसमें क्या उस रामादि वस्तुका भ्रम नहीं होता है ? यदि कोई कहे

कि, रात्रिके समय सर्व इन्द्रियोंके अवबोध (ज्ञान) की हानि होनेसे प्रायः मोहत्वको प्राप्त हो जाती है और इसी वजहसे अतद्वस्तुमें तद्वस्तुका भ्रम होता है. तब इससे तो यह बात सिद्ध हुई कि इन्द्रियोंद्वारा जो ज्ञान होता है वह हमेशा सत्य नहीं होता है. नीरोगी पुरुष शंखको सुफेद देखकर लेते हैं परन्तु जब उनको ही कांचकामलीका रोग होता है तब शंख बहुत रङ्गवाला होना क्या नहीं बताता हैं ? जब पुरुषका मन स्वस्थ होता है तब वह स्ववंधुओंको पहिचानता है, परन्तु वहही जब मदिरासे उनमत्त होता है तब क्या पहिचान सकता है ? इन दो दृष्टान्तोंमेंके पुरुषोंमें उनकी वेही इन्द्रिएं होने पर इतना विपर्यास कैसे हुआ ? इन पुरुषोंका कौनसा सत्य प्रमाण ज्ञान है ? पुरातन रोगादि होने पहिले अथवा आधुनिक रोगादि हुए बाद यदि कोई कहे कि आधुनिक नहीं परन्तु पुरातन सत्य है तो इन्द्रिएं वेही होनेपर विशेषता कैसे हुई ? पहिले मन अविकारी था और पीछेसे विकारी होनेसे यह इतना भेद किसमें हुआ ? यदि यह भेद मानसिक होतो मन दृश्य नहीं है तथा वर्णोंसेभी यह निवेदन नहीं किया जा सकता है. और जो दृश्य नहीं है वह नास्तिककी मान्य-

तानुसार है. विकारतो साक्षात हुआ है वह कैसे हुआ ? दृश्य पदार्थोंमें हो जो इन्द्रिय मोह प्राप्त करता है उसे कौनसा सत्य पुरुष कहेगा कि, इन्द्रिय ज्ञान सर्व सत्य है दिव्य दृष्टि निःस्पृह उपकारी पुरुषोंने जो उपदेश किया है वहही सत्य है स्वस्थ चित और तत्त्वदृष्टिसे विचार करो कि, ज्ञानवंतोंके उपदेश किये हुए *आनन्द शोकादि वहुतसे शब्दोंका नास्तिक

---

*आनन्द, शोक, व्यवहार विद्या, अज्ञान, कला, ज्ञान, मन, विनोद, न्याय, अन्याय, चोरी, जारी, चार वर्ण, चार आश्रम, आचार, सत्कार, वायु, सेवा, मैत्री, यश, भाग्य, वल, महत्व शब्द, अर्थ, उदय, भंग, भक्ति, द्रोह, मोह, मद, शक्ति, शिक्षा, परोपकार, गुण, क्रिडा, क्षमा, आलोच, संकोच, निकोच, लेचराग, रति, सुख, दुःख, विवेक, ज्ञाति, प्रिय, अप्रिय, प्रेम, दिशा, देश, ग्राम, पुर, यौवन, वार्धक्य, सिद्धि, आस्तिक, नास्तिक, कषाय, मोप, विषय, पराङ्मुख, चातुर्य, गांभीर्य, विषाद, कपट, चिन्ता कलङ्क, श्रम, गालि, लज्जा, संदेह, संग्राम समाधि, बुद्धि, दिक्षा, परीक्षा, दम, सयम, महात्मय, अध्यात्म, कुशील, शील, क्षुधा, तृषा, मूल्य, मुहूर्त, पर्व, सुकाल, दुःकाल, विकराल, आरोग्य, दारिद्र,

आस्तिक एकही तरहसे यथार्थ मानते हैं. ये शब्द जिव्हा दिवत् है शब्दवाले, स्वर्णादिके माफिक रुपवाले, पुष्पादि की नाइ सुगंधी वाले, शरकरादिके शदश रसवाले और पर्वतादिके मुताविक स्पर्शवाले नहीं है, परन्तु ताल्वोष्ट जिव्यादि स्थानसे वोले जाते हैं एक कर्णेन्द्रिय द्वारा ये वर्ण गृहण कर सकते हैं, और इनसे होतीहुई विष्टादिवसे विशेप वोध होता है तथा स्वाभ्याससे हुए फल परसे अनुमान हो सकता है. ये शब्द स्वविरोधिका नाश करते हैं और स्वविरोधिका जन्म होते ही अपने नामको शीघ्र नाश करते हैं. स्वकीय विचारके साथ उत्पन्न होते हुए गुण विशिष्ट जो शब्दोको एक तरहसे काममे लाता है. यदि ऐसे सिद्ध शब्दोंका साक्षात्कार (अनुभव) स्वेन्द्रियसे न हो तो अप्रत्यक्ष पुण्य, पापादि वस्तुमें किसके इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति हो सके.

राज्य, अतिष्य, प्रतीति, प्रस्ताव, हानि, स्मृति. वृद्धि, गृद्धि, प्रसाद, दैन्य, व्यसन, असूया, शोभा, प्रभाव, प्रभुता, अभियोग, नियोग, योग आचरण तथा दूसरे भावप्रत्यायान्त शब्द हैं.

चतुर्थमोऽधिकारः

एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानना इस विचारसे विवेक चक्षु-वंतोको सर्व पदार्थकी सिद्धिको प्राप्त करना समर्थ नहीं होता है.

तब सत्य क्या है ?

प्रवीण लोग कहते हैं कि, जो एक पदसे बोला जाय वह सत्पद और जो सत्पदसे वाच्य होता है वह होताही है. जैसे आनंद शोकादि पहिले कहे हुए शब्द विशेष करके काल स्वभाव, नियति, कर्म, उद्यम, प्राण मन, जीव, आकाश, संसार, विचार, धर्म्म, अधर्म्म, स्वर्ग, नरक, विधि निषेध, पुद्गल, परमाणु, सिद्ध, परमेश्वर आदि इन शब्दोंके किसीभी शब्दको किसीभी बुद्धिमानको चेष्टा सहित प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है परन्तु सब शब्द शत्पदसे प्ररूपने योग्य हैं इनके वर्ण एक कर्णेन्द्रियसे ग्रहण होसकते हैं और स्वभावसे उत्पन्न होते ही उस २ प्रकारके फलसे अनुमानभी हो सकता है. सिरफ केवल ज्ञानी देख सकते हैं वे शब्द जो दो अथवा अधिक पदोंके संयोगसे होते हैं वे (तद्वाच्य वस्तु ?) हो अथवा

नभी हो, वंध्या और पुत्र पृथक् २ होते हैं. परन्तु वंध्या पुत्र यह युक्त शब्द (तद्वाचय कोई वस्तु विशेष ?) नहीं है. इसी तरह आकाश पुष्प, मरीचितोय, खरशृंग! आदि अनेक संयुक्त नहीं है अर्थात् तद्वाच्य कोई वस्तु नहीं है. कर्णेन्द्रियसे गृहण करने योग्य भावसेभी इनकी सत्ता नहीं है; इस लिये इन्द्रिय गोचर सर्व सत्य नहीं है कितनेक संयोगही शब्द तद्वाच्य वस्तु होते हैं. तब (उनके संयुक्त शब्दोंसे वाच्यका ?) विरह प्रायः नहीं होता है जैसे गोशृंग (गायका सींग) नरेन्द्र केश (राजाके वाल) भूमिरुह (जमीनमें उगाहुआ वृक्ष) गोपति (गायका मालिक) भूधर (पर्वत) आदि कितनेक शब्द पृथक् २ और संयुक्तभी होते है.

आंख, कांन आदिसे गृहण होनेवाली वस्तु गृहण होने परभी असली कापूरादिमें और कापूरादि नहीं परन्तु इसके सदृश शर्करादिमें आंख कांनके भेद नहीं पाडे जा सकते हैं. आंख, कान, नाक और जिव्हासे शर्करादि सुगंधि वस्तुओंसे ज्ञान होता है तोभी उनमें कितनेकके विषयमें जिव्हासे प्राप्त कियाहुआ ज्ञान प्रमाण गिना जाता है. रत्नपरीक्षक इन्द्रिएं वरोवर होनेपरभी रत्नपरीक्षिका नामक ग्रन्थके आधारसे

माणिक्य प्रमुख रत्न राशियोंकी अधिक अथवा कम कीम्मत करते है परन्तु वरोवर नहीं करते है उसमें उनकी प्रतिमा (बुद्धि) का विशेष कारण है इसो तरह अफिम आदि जोटक (केफ ?) में सर्व इन्द्रिएं मोहको प्राप्त होजाती हैं परन्तु इसके खानेसे जो उन्मत्तता होती है वह इस विषयमे निर्णय करनेमें प्रमाण सहित गिनी जाती है अतएव इन्द्रिय ज्ञान सर्व सत्य नहीं है औषधि, मंत्र, गुटिका और अदर्शीकरण (नेत्रोजन) से गुप्त रहनेवाला शरीर लोगोके दृष्टि पथमे नही आताहै इस परसे उनका न होना क्या इन्द्रिय गृहण नहीं करती है ? अर्थात् इन्द्रियोसे उसका अस्तित्व गृहण नहीं हो सकती हैं परन्तु वह पुरुष तो आनाय, मोचनादि–लाना रखनादि कार्य करता है. इससे उसकी सत्ता सिद्ध होती है तथा इससे परोक्षकी सिद्धि होती है और परोक्षकी सिद्धिहुई अर्थात् स्वर्ग, नर्ककी सिद्धि होही गई.

जो वस्तु चेष्टासेभी न देखी जाय वह कैसे मानी जाय ?

सर्वज्ञ भगवान केवळ ज्ञानसे जितनी सत् वस्तु हैं. उन तमामको जान सकते हैं इसलिये दूसरोंको ज्ञान होनेके हेतुसे वे जो वचन कह गये हैं उन्हें प्रमाण गिनने चाहिये, देखो !

इस संसारमेंभी जो अन्य जनोंको नही दिखता है वह वरोवर तद्ज्ञाता (इसके जानने वाले) को दिखता है. नैमित्तिक लोग (ज्योतिर्विद लोग) ग्रहण, ग्रहोदय, गर्भ तथा मेघका आगमन आदि जान सकते हैं. चुडामणि (रमल ?) शास्त्रके जानकार वितीहुई सर्व वात कह सकते हैं. निदान वैद्य सर्व रोगका निदान निवेदन कर सकते हैं परीक्षक (पारखिये) रुपयोंकी परीक्षा कर सकते हैं. पदज्ञ (पगी) पग निकाल सकते हैं शाकुनिक शुकन पहिचान सकते हैं. सामान्य लोग वैसा नहीं कर सकते हैं. इतने परसेही समझमें आयगा कि, इन्द्रियोंसे दूसरा क्या वोध हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि, सर्व मनुष्य परोक्ष पदार्थोंको नही जान सकते हैं इसको सिरफ ज्ञानी लोग जान सकते हैं. इन्द्रिएं होने परभी मनुष्य आचार, शिक्षा, विद्या, मंत्र, आम्नाय, साधन, चारित्र, वृत्तान्त और परदेशकी वात अपने आप नहीं जान सकते हैं इस लिये चित्त स्थिर करके और विकल्प छोडकर समझो कि, इन्द्रिएं अपने जो गृहण करने योग्य हो उसकोही गृहण करती हैं जो ज्ञान इन्द्रियोंको परोक्ष हो तो वह परोपदेशसे शीघ्र समझा जाता है अच्छा अथवा बुरा यह विस्तारसे अथवा

संक्षेपसे अन्य द्वारा ही समझा जा सकता है. अंत्रवृद्धि (अंतरगल शुक्ररोग, कफ, पित्त, वात, नाडी, भ्रम, गुल्म (वायुका गोला), यकृत् (लीवर), पलाश्य, गंडोल (कृमि ?), तापाधिक्य (ज्वरकी अधिकता), कपाल रोग, गल रोग (गर्दनकी व्याधि) और विद्रधि आदि स्व शरीरगत रोगोंको सामान्य मनुष्य अपनी इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते हैं परन्तु परोक्ति दूसरेका कहना) सुननेसे तथा औषधीसे शमन होनेसे रोगके अस्तित्व विषय उसको निश्चय होजाता है. जो वस्तु प्राणीके शरीरके अवयय भूत हो वह देखी जा सकती है: परन्तु अमूर्त देखनेमें नहीं आती है आकृति वाले प्राणिके अंग ऊपर यदि कोई वस्तु हो अथवा वह तंदगभूत हो वह दिखाइ देती है. निराकार जीवके गुण नहीं देखे जा सकते हैं कारण कि, वे गुणभी निराकार हैं इस परसे यह सिद्ध होता है कि, इन्द्रियोंके लिये जो गृहण करने योग्य है उसको ही ग्रहण करती हैं. आप्तोंका यह कथन है कि, सामान्य मनुष्यकी इन्द्रिएं सर्व देख तथा ग्रहण नहीं कर सकती हैं यह बात सत्य है.

पञ्चदेशोऽधिकारः

कोई वस्तु शरीरके वाहिरके भाग पर होनेपर भी यदि वह दृश्य–ग्राह्य हो तोही प्राणि उसको स्व इन्द्रियोंसे देख सकते हैं जो ग्राह्य नहीं है उसका ग्रहण नहीं होता है वह सिरफ दुसरेके कहनेसे माननेमें आता है. अत्रदृष्टान्त किसी पुरुषके गर्दनके पिछले भाग परके पृष्ट वांसाके मध्यभागमें भृंग (भमरा), स्वस्तिकादि चिह्न अथवा तिल आदि हो तो उसको वे अपनी इन्द्रियोंसे नहीं देख सकते हैं जब उनके मातृश्री प्रमुख वृद्ध कहते हैं कि 'उसके यहां भमरादि है' तब वह इस वातको कबुल करता है परन्तु वह किसीभी प्रसंङ्ग पर अपनी स्वेन्द्रियोंसे उनको नहीं देख सकता है इसी तरह स्वर्गादि विद्यमान होनेपर भी स्वेन्द्रियोंसे नग्राह्य होते हैं और न दिखाइ देते हैं इस स्थानपर यह शंका करना ठीक नहीं है जैसे भृंगादिको देखने वाले अधिक होते हैं और न देखने वाला सिरफ एक भृंगादि वाला होता है. इसी तरह स्वर्गादि को देखने वाले अधिक नहीं है. स्वशरीरमं चिह्नको नहीं देखने वालेके माफिक नास्तिक हैं और आप्त वचनको प्रमाण

मानने ।लवा अर्थात् परभवको मानने वाले आस्तिक लोग कई गुना नास्तिक लोगोंसे ऊंच हैं. यहभी नहीं कहना चाहिये कि पृष्ठ (पीठ) परके चिह्नका जव फल होता है तव उसके विद्यमानका निश्चय होता है तथा स्वर्ग और नर्कका किसीभी चेष्टासे वोध नहीं होता है शैवोंके मान्य, शक्ति, शम्भु, गणेश, वीर आदि देव समूह और तरुष्कों (मुसलमान) को पूज्य फिरस्ता, पेगम्बर, पीर प्रमुख उनकी सेवा से मिलते तादृश फलसे लोकोक्ति मुताविक जाने जा सकते हैं या नहीं. यदि है तो वह देव है– मर्त्य नहीं परन्तु कालिकालके योगसे प्रायः देखे नही जा सकते हैं और उनकी निवास भूमि दूर होनेसे उन क्षेत्रोंका मार्गभी मनुष्यको अगम्य है उनकी सत्ता सिद्ध होनेपरभी अपने जैसे यहां रहने वाले नहीं दर्शा सकते हैं इसी तरह पाप हेतुसे प्राप्त होने योग्य नरक गतिकी सत्ताभी स्वयमेव विचारना चाहिये. पुनः स्वचित्तमें विचार करो कि, जम्बुद्वीप है या नहीं परन्तु इसका विद्यमान होना तुम और हम सव सुनते हैं. ठीक यह वात कौन नहीं मानता है यदि मानते होतो यहां खडे २ वताओ और यदि ऐसा कथन हो कि यहां खडे २ कौन वता सकता है तो इसका

उत्तर यही है कि, जैसे यहां रहने वाले जम्बुद्वीपको नहीं देख सकते हैं इसी तरह यहां रहने वाले छद्मस्थ (केवल ज्ञान नहीं प्राप्त कियेहुए) पुरुषोंके लिये स्वर्ग मोक्षादि स्थान देखना असम्भव है.

षोडशोऽधिकारः

स्वर्ग मोक्षादि प्राप्त करनेका साधन क्या है ?

हिंसा, असत्य, चोरी, स्त्री संग और परिग्रह इन सबको सर्व प्रकारसे त्याग करनेसे स्वर्ग मोक्षादि प्राप्त होत हैं जगत प्रसिद्ध भगवान इन पांचोंको त्याग करके सिद्ध हुए हैं. मुमुक्षु (मोक्षके अभिलाषी साधु–मुनि) में सत्य, शील, क्षमा,

---

JAINISM NOT AN ATHEISM.

Those who believe in a creator sometimes look upon Jainism as an atheistic religion, but Jainism cannot properly be so called Jainism does not deny the existence of God [Parmatman]. God is described in Jain scriptures, but there is a difference between the discription of God as given in those books and the bescription given in the religious books of other faiths The chief difference is that while God is described in the books of some other faiths as

उपकारिता, संतोष, निर्दुषणता, वीतरागता निसंगता, अप्रति बद्धचारिता (बिना प्रतिबंधके जाना व आना) सज्ज्ञानिता, निर्विकारिता, सद्गोष्ठिता, निश्चलता, प्रकाशिता, अस्वामि सेविता (स्वामी सेवक पनाका अभाव) अतीव्रसत्त्वाता अतिश्य प्राक्रम) निर्भिकता, अल्पाशनता (थोडा खाना), विशिष्ठता, संसार संबंध जुगुप्सता आदि जो अल्प गुण होते

---

being a creator and ruler, God is not so described in the Jain books God, according to the Jain description, is an all-knowing and perfectly happy soul with infinite capacities of activity, a pure and perfect soul without any material body, a being that cannot perish or become degenerate

To disbelieve in the existence of a thing is not the same as not attributing to that thing some particular quality In believing in the existence of soul in a pure and perfect state Jainism cannot be classed with those who do not believe in the existence of soul different from the body or different from matter. Pure soul and God are in reality one and the same thing, and the final goal of any particular soul is to become pure and perfect, in other words to become a God with all the attributes of divinity which, in the Jain faith, do not include creating and ruling.

हैं वेही जब मुमुक्षु लोग सिद्धिको प्राप्त होते हैं तब सिद्ध स्वरूप शिव होनेसे अनंत होते हैं इसमें केवलीका वचन प्रमाण है, सेवकको स्वामीके शिलके अनुसार चलना चाहिये, यह बात सर्व लोकमें प्रतीत है तदनुसार महानुभाव मुनि सिद्धके गुणोंको प्राप्त करनेकी ईच्छासे सिद्ध जो अमूर्त, निराहार, गतद्वेष, वीतराग, निरंजन निष्क्रिय, गतस्पृह (ईच्छा

Atheists properly speaking are those who deny the existence of soul nd maintain that there is no such thing as a soul distinct from matter, and assert that what people call soul is nothing but an outcome of a particular combination of atoms of matter, and that when that particular combination is impaired the soul becomes extinct

According to Jainism every soul has existed from eternity, and from eternity souls have ever been merging from the ordinary embodied worldly condition into the pure condition, and will continue for all time to do so, but they never come down from this condition of Godhead to the condition of souls in the ordinary embodied states

From all eternity the ordinary soul has been indulging in false attachment and aversion to other things, ignorant of its own nature, and by reason of this indulgence it is never at ease Upon the abandonment of this attachment and aversion the soul becomes calm and

रहित), स्पर्श (चडसा चडसी) रहित, बंधन संबंधोसे वर्जित, सत्केवलज्ञानरूपी निधानसे सुंदर और निरंतर आनंदामृत रससे पूर्ण है उनके गुणोंका यथाशक्ति अनुकरण करते हैं यद्यपि सिद्धके सर्वगुणोंको पूर्णपनसे सेवनेको यहां इस भवमें वे समर्थ नहीं होते हैं तथापि आत्म योग्य बल (वीर्य) को फैलाकरके सिद्धके गुणोंका आश्रय तो अवश्य लेते हैं

---

tranquil, and when completely free from the influence of these unnatural activities the soul lives its natural life and becomes all-knowing permanently happy, and immortal; in short it becomes a God Thus Jainism does not deny the existence of God, but it does deny that in Godhead there is the quality of creating and ruling other things and beings by punishment and reward

Now let us see whether the qualities of creating and ruling can be attributed to Deity without impairing His other qualities, or whether attributing those qualities to the Deity involves contradictions and defects, without contributing to the virtuous conduct of man and to his salvation.

Those who believe God to be a creator can be divided chiefly into two classes, (1) those who regard three things as eternal, *viz*, God, soul, and matter, saying that out of the two latter God makes the world, and (2)

वह इस प्रकार है:-सिद्ध अमूर्त हैं, साधु देहपर ममत्व नहीं रखते हैं.सिद्ध अरूपी हैं, साधु शरीरके संस्कार तथा सत्कार का निषेध करते हैं. सिद्ध निराहार है, साधुभी क्वचित् २ आहारको त्याग करते हैं सिद्ध द्वेषसे मुक्त हैं, साधु सर्व जीवोंपर रुचि सहित मैत्रि धारण करते हैं. सिद्ध वीतराग

---

to ose who hold that only God is eternal and nothing else. This latter class may be again divided into (*a*) those who believe that God created the world out of nothing; and (*b*) those who believe that God created the world out of himself.

With regard to the first class, *viz*, those who believe that God, matter, and souls are eternal and that God makes the world out of the matter and the souls, it is obvious that, given matter and souls with their attributes and conditions, they are quite sufficient by their mutual interaction to make a world, and there is no need of any interaction, by a Deity.

Further, perfection and all happiness must be attributed to Deity, and being thus perfect and happy he could not wish to create a world, for a desire to create a world would indicate a want in the Deity, and a want is not consistent with the idea of perfection Thus by attributing creation to Deity the qualities of perfection and happiness are destroyed.

हैं; साधु बन्धुओंके बंधनसे रहित होते हैं. सिद्ध निरंजन है; साधु प्रतिविलपनादिसे शून्य रहते हैं. सिद्ध निष्क्रिय है; साधु आरम्भ सारंभके विलंभसे दूर रहते हैं. सिद्ध निःस्पृह हैं; साधु किसीभी प्रकारकी आशा नही रखते हैं. सिद्ध अ-

---

Further, it is admitted that ordinary living beings suffer pain and misery, and that salvation from these pains and miseries can be obtained by obeying the precepts of God as given to the world But creating souls and bringing them into the pains and miseries of the world and then afterwards giving them precepts, by acting upon which they can release themselves from these pains and miseries, is not an act of wisdom; for an omniscient and almighty being who should put a thing into an unsatisfactory condition and then give it rules for its betterment could not be called wise and benevolent

Again, an omniscient being has no need of testing any body or anything to see what it will do, and if it be said that God put souls into this world to see which of them would obtain salvation and which would not, then the omniscient quality of the Deity is destroyed.

Again. to attribute creation to Deity is not consistent with goodness, because with a perfectly good creator there would be no evil or impurity in his creation, no worldly ruler desires bad actions to be committed in his

स्पर्धक है; साधु वाद विवाद नहीं करते हैं. सिद्ध निर्बन्ध हैं; साधु स्वेच्छा विहारी है. सिद्ध निःसंधि है; साधु परस्पर की मित्रतासे विरक्त हैं. सिद्ध केवल दर्शी है; साधू सर्व जगत स्वभावकी अनित्यता देखने वाले हैं. सिद्ध आनन्दसे परिपूर्ण -

---

country, but worldly rulers are not omniscient and omnipotent, and they cannot therefore prevent such action from being committed in their kingdoms, but Deity is to be considered as perfectly powerful and benevolent as well as omniscient, and therefore no evil deeds could be committed were Deity the creator of the world, for he would not give his creatures the power of committing such deeds.

The same is the case in relation to sorrow, pain, disease, and poverty If it be said that pain and disease are the result of the evil deeds of those who suffer these things, then if Deity is regarded as the 'creator who gave people the power of doing evil deeds and afterwards punished them for exerting that power, such a Deity would lack the quality of goodness, for what would one think of even an earthly father who seeing his son abont to commit some evil deed and being able to prevent him, took no action in the matter, but punished the son afterwards for his sin ?

है; साधु अन्तकरणको शुद्ध रखते है और संतोषसे समता भाते हैं जिन २ गुणोंका मुमुक्षु प्रकल्प कर (धारण करके) यथा शक्ति उनके बराबर वर्त्तन करके सिद्ध होते है. दूसरे गृहस्थभी दुष्कर्मकी शान्तिके लिये अपनी शक्तिके योग्य उन

The next thing to be considered is the belief that God is the only eternal existence and that he created the world out of nothing or else out of himself

With regard of the theory that God created the world out of nothing, is there any proof or argument that can be found to support this belief? Apparently not; for nature does not show us that this world came into existence out of nothing, nature does not show us any single instance where something has come into existence out of nothing; everything that we see has had a previous state, and we never see anything that goes into absolutely nothing. Physical science has proved that something does not come out of nothing and that a thing cannot be reduced to nothing. If God created the world out of nothing he could destroy it, and this implies that being can be converted into non-being; so that those who worship the kind of God that we are now considering worship a being who has the potentiality of becoming non-existent But 'being' and 'non-being' are contradictory terms and cannot be converted into each other.

गुणोंको अपने देशके मुताबिक अनुसरते है वे भी अनुक्रमसे सुखी होते हैं.

चाहे गृहस्थ लोग इन्हीं गुणोंका चिरकाल तक देशसे आश्रय दे परन्तु जिस कार्यमें जीव हिंसा होती है उसे आश्रय देना अच्छा है या क्या ?

Non-being cannot become being, nor *vice versa*, which is obvious to common-sense and to the intuition. Thus the theory that God has created the world out of nothing and can destroy it whenever he pleases is contrary to common sense, contrary to the intuitive faculty, and contrary to scientific evidence and to natural law

The next point is the theory that God is the only eternal existence and has created the world out of himself, that is to say, he himself has taken the shape of the world If this theory be held, then the question arises how God, who is a pure and perfect being, could convert himself into this impure and imperfect world Either the work of creating the world cannot be attributed to him, or else the germ of the impurity found in the world must have been in him from eternity That is one difficulty Another difficulty is the impossibility of an intelligent being becoming non intelligent matter. In the world there is insentient matter as well as intelligent being, and sentient intelligent being could not

ग्रहस्थ प्रायः स्थुल बुद्धि, अधिक चिन्तायुक्त, आरंभ सहित और परिग्रह (धन्य धान्यादि) में आदरवंत होते है, इस लिये सुक्षम दृष्टिसे अवलोकन (विचार करने) में उन की बुद्धि कुंडित रहती है (काम नहीं करती है). आलम्बन विना तत्त्वत्रय (देव, गुरु और धर्म्म) में यह विमोह पाती

---

function as the insentient and non-intelligent elements that there are in the world, so the theory that God and intelligent being, created the world by himself taking the shape of it including the non-intelligent parts is untenable.

Those who hold this theory of God being the only eternal existence and himself taking the shape of the world are, among others, the Vedantists of India They hold that God is pure intelligence and that when he created the world he associated himself with what appears to be and is called the non intelligent But here the question arises whether this non-intelligent element with which intelligent being became associated is a separate and different entity from God, or whether it is an attribute of God. If, it is a separate entity, then the theory of there being only one eternal thing is contradicted and dualism is accepted If, on the other hand, it is an attribute of God, then this non-intelligent element must always have been with him and he cannot be regarded

है अतएव शुभार्थ निरंतरसाकार, देवपूजा, साधुओंकी सेवा और दानादि धर्म्म करो. ऊच्च (उत्तम) कुलाचारके रक्षणार्थ आत्माकी उन्नतिके लिये गृहस्थ पहिले सब प्रकारके धर्म्मका सेवन करते थे अतएव अबभी गृहस्थोंकी आत्म

---

as pure intelligence but must always have the elements of non intelligence and impurity in him In the Jain theory this association of the pure and perfect intelligence with the element of non-intelligence and impurity is acknowledged, but the difference is this that while the Vedantists hold that God associated himself at some particular time with this non intelligent element and thus became the visible world, the Jains maintain that this pure intelligence and the non intelligent element in so far as they are at present intermingled have been intermingled with each other from eternity and are thus the cause of the visible world Soul and matter in the ordinary living being are as a matter of fact actually intermingled, but as they never became but always have been intermingled, the question of the cause of their so becoming does not arise, for there never was a time when those souls who are now intermingled were not so The real nature of the soul itself is the same whether intermingled with matter or pure, but while it is combined with the non intelligent element in the form of subtle material forces, these produce feelings of attachment and aversion;

सम्पदाके लिये द्रव्य और भाव इन दो प्रकारसे द्रव्यका आश्रय लेना योग्य है गृहस्थ प्रायः सावद्य (पापमय व्यापार) में रक्त, सदाकाल ऐहिक (इस लोकके विषयमें) अर्थ प्राप्तिमें प्रसक्त (लगाहुआ) कुटुम्ब पोषणार्थ ऊंच नीच बहुतसी बात-(आजीविकामें) आदर युक्त, परतन्त्रतासे खिन्न और

---

and these passions, acting as the instrumental cause of good and bad unnatural actions, become the means whereby new matter of a similar kind is attracted to and combined with the soul. This matter that is attracted to and combined with the soul becomes a kind of stored force which will at some time or other spring into activity and produce some kind of pleasure or pain to the soul After having thus exhausted itself it falls away from the soul but, as just mentioned above, while it is operating it acts as the means whereby new matter of a similar kind is attracted and assimilated until the soul comes to know its own nature recognizes these forces as foreign elements, when it ceases to identify itself with them, so that while they are exhausting themselves no fresh forces of a similar character are generated Once all these foreign forces are removed from the soul, it is pure, and never again becomes impure, it has reached Godhead.

So we have now seen that the quality of being creator and ruler cannot be attributed to Deity without detract-

मनमान्य पुण्यकार्यमें उद्यवंत होते हैं. वे आत्म रुचिके मुआफिकही प्रवृति करते हैं इस लिये स्वचितकी अभितुष्टिके लिये जो पुण्य करे उसे करने दो. गृहस्थ हृदयमें यह ख्याल कर द्रव्य धर्म्म करते हैं कि, यह मन द्रव्यसे अन्य कर्म करानेसे तुष्टि धारण करता है तथा द्रव्यसे किसी प्रकारके

---

ing from other qualities essential to the idea of Deity But there are some further considerations to be mentioned

One great argument put forward in support of the belief that there must be a creator and ruler of the universe is the fact of system and order in the processes of nature, and also the fact of beauty, it being maintained that these are the evidence of intelligence However, it is not correct to say that there are only beauty and order in the world, for there are also disorder and ugliness. If it be said that storms, earthquake, and disease are sent by God for some beneficial object that he has in view, then obviously this view is taken at the expense of either the quality of benevolence or the quality of omnipotence, for were God both benevolent and omnipotent, such injury and inconvenience would not be allowed to exist

Further, it is too bold an assertion to say that the whole phenomena of the world, including those of material substances such as chairs and tables, can be explained by only intelligence as their cause An effect that is composed of both intelligence and non-intelligence cannot

धर्म्मकोभी करके स्वमनको पसंद करते हैं. गृहस्थके सब व्यापार द्रव्यसे सिद्ध होते हैं इस लिये द्रव्यवंतको द्रव्यसेही स्वधर्म साधनेका स्वभाविक मन होता है और युक्त भी है कारण कि, जिसमें जिसका बल हो उसही बलसे वह अपना धारा- हुआ करता है. इस लिये द्रव्य की व निसबत गृहस्थका

---

be said to arise from intelligence only And, again uniformity and regularity do not arise only from the action of intelligence, for an intelligent being is more likely to behave in an irregular way than is a non-intelligent substance such as a chair or a table, which will proceed according to its fixed nature until acted upon by some external cause

According to Jainism the world is the effect of both intelligent and non intelligent causes The intelligent cause is of only one kind, while the non-intelligent causes are of five kinds These six entities are the causes of the world, these six entities in their various conditions with their attributes and natures The nature of the intelligent cause is to know; the five non-intelligent causes are matter, space, time, and two things which act respectively as the cause or means by which resting things rest and moving things move.

It is not maintained that these six causes created the world at some particular time; they exist, always have and always will, and by their changing conditions and interaction cause the world to be what it is. There are

मन जिस प्रकार संसार कार्यसे संहृत हो उसी प्रकार सालम्बन (साकार देवपूजा, साधु सेवा और दानादि) द्रव्य धर्म्ममें—पुण्य विधिमें मन—अपेक्षा रखो. स्वइन्द्रियोंको संसार सम्बन्ध क्रियामेंसे रोककरके जिससे कुछभी मन स्थिर हो

---

always two causes in any event, namely, the 'upadana' and the 'nimitta', that is to say the substantial cause and the instrumental cause, fire, for instance, would be the instrumental cause determining water to boil, water being the substantial cause of the event called 'boiling' And each of the above named six substances or realities, namely, intelligent being, space, time, matter, and two others, is both substantial cause and instrumental cause, each acts upon the others and is itself acted upon by the others Each has the power of originating new states, destroying old ones, and keeping itself permanent This power is called "satta" It is not a separate entity existing outside these six realities, it is a power inherent in them and inseparable from them It is not an extra-cosmic, individual person creating and controlling the universe, it is an attribute of each of the six substances, not a being at all either intelligent or non intelligent Thus the power which creates and destroys things is not extra-cosmic outside the above named six realities, the power is inherent in the things themselves, and is found in both the intelligent and in the non-intelligent realities.

वैसी पूजादिका आश्रय करो. जहांतक आनाकार पदार्थका चिंतन सिद्ध परमात्माका निरालम्बन ध्यान करनेमें मन समर्थ न हो और सुसाधु कुसाधुका निश्चय करने योग्य ज्ञानोदय न हो तहांतक निश्चय दृष्टि कुलिन पुरुषको स्यव्यवहार

This power is not called God, in Jainism. That is the Jain position and it is thoroughly sound.

The next consideration is with regard to the belief in a creator contributing to the virtuous conduct of man and to his salvation. To worship a creator does not necessarily either contribute to virtuous conduct or lead to salvation, the final goal of life (moksha) There are five salient principles of virtuous conduct which are recognized by most religions, they are —not to kill or hurt any living being, that is to live and let alive, not to tell falsehoods, that is to say, to be truthful not to steal, but to be honest, not to commit adultery, but to control the sex passion, and finally detachment from worldly objects and sensual pleasures Now the belief in a God who is regarded as creator leads men to think that God has created all things for man's use and so he indulges in the free use of such things as meat and wine Such men do not act much upon the first, fourth, and fifth of the above principles and the violation of these often leads to the violation of the remaining two, truthfulness and honesty. Further, it is agreed by most religions

की रक्षा करना योग्य निश्चय पर दृष्टि कायम रखकर व्यव-
हार साचवने वाला गृहस्थ दूसरोंसे नहीं निंदा जाता है. जब
निराकार पदार्थमेंभी चित्त स्थिर हो तब सिद्धका निराल-

---

that for the attainment of salvation it is necessary to control the passions and desires, and to sever one's worldly connections, and people who believe God to be a creator argue that as God has given them these passions and desires, why should man try to suppress them, and having been sent into the world why should man try to sever his connection with it or live an unworldly life? So that, it is obvious that the worship of God as creator does not necessarily lead to a virtuons life or to salvation (moksha) Thus we have additional reason why the Jains do not attribute to Deity the quality of being a creator, but regard God as a pure and perfect being, omniscient happy, all—powerful, and eternal, who neither creates other things or beings, nor rewards nor punishes

Another argument sometimes put forward by those who believe that the Deity is the creator, is with regard to punishment and reward it is said that in the world criminals and evil doers are not punished where are no judges or magistrates, and that in the same way the soul could not be punished or rewarded after death for its good and evil actions unless there were a ruler of the-

स्वन ध्यान करो तथा उसको साधनेके लिये साधु और गृहस्थके मुआफिक आत्मज्ञानमें प्रयत्न करो. पहिले जो द्रव्य और भाव दो प्रकारका कहनेमें आया है वे सर्व निर्वाण धाम

---

universe In answer to this it must be remembered in the first place that criminals are not always punished by a judge or a magistrate, but receive their punishment in some other way by getting killed by accidents, such as falling from a window when burglaring, or by getting diseased, etc.; and in the second place it must be remembered that judges and mad magistrates sometimes send to prison innocent persons while the real culprit gets off free. Thus it cannot be that one's punishment and reward come by judges and magistrates; there must be some other cause According to the Jain theory the cause of punishment and reward is what is called 'karma' It has the capacity at its proper time of producing an effect upon the person who has generated it, and all such things as accidents so-called, disease, the actions of judges, etc, are only the instruments by which the effect is brought about, so that there is no possible need of any action by Deity, the reward or punishment following simply as effect from cause, that cause being, as already mentioned, what is called 'karma'. Karma is something quite real but unintelligent, it is a

(मोक्षरूप मेहल) की द्वारभूमि प्राप्त करनेके लिये उत्तम यान (वाहन) समान है और आत्मज्ञान नामक आंगन पर पहुंचनेके बाद निर्वाण धमके अंदर प्रवेश करनेके लिये आंगनमेंक पाद विहार सदृश महात्माओंके शिवालय (मोक्ष)

---

subtle matter that is attracted and assimilated by reason of certain foreign elements in the person, such as delusion, lust, anger, pride, deceitfulness, and greed which themselves are other karmas in another aspect

Again, it might be asked by some, if God is not our creator, if he does not reward or punish us, if he renders no service to mankind nor has anything to do with man's affairs, what then can be the use of worshipping Deity ? The answer to this is that by worshipping Deity as one worships heroes, by meditating upon the attributes, the same attributes tend to become manifest in us It is a rule that man's thoughts take the tinge of the things towards which his thoughts are directed, and by thinking of the attributes of Deity, man's condition is improved and his spiritual nature is developed and he ultimately reaches the stage where he begins to realise that the attributes of Deity are also his attributes, attributes latent in man, but that owing to worldly desires and aversions these

में अवस्थिति करके देनेवाले है. अर्थात् आत्मज्ञान ही परम् धर्म्म है जिसके साधनसे निर्वृति (मोक्ष) निश्चित होती है. आत्मज्ञानमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रमुख सर्व गुण समूह होते हैं. आत्मज्ञान अतिशय जयवन्त वर्त्तता है कारण कि,

---

divine qualities are obscured in man. So that while external Deity neither gives anything to anybody nor takes away anything from anybody, still the worship of Deity is a means whereby one's own spiritual nature can be developed, and it is therefore most beneficial to worship Deity in this sense

There is another question that might be asked, namely, if God is not the creator and ruler of the universe and does not do anything in the matter of its affairs, how then can Deity be said to be all-powerful? There are two considerations that may be made in answer to this question, first. a king who has fought and conquered his enemies and is able to maintain himself from being further molested by them, is called powerful There is no mightier for man than his own passions or lower-self, and he who has conquered his lower-self completely, in such a way that it can never again molest or trouble him, is the most powerful kind of man and he may be

इसमें अनंत ज्ञानादि की शुद्धि होती हैं और इसके होनेसे अनंत चतुष्टय (अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतवीर्य और अनंत सुख) प्राप्त होते हैं जैसे आकाश दर्शनमें तथा इस अनंत चतुष्टयनका पारपानेका सर्वज्ञ विना किसीकाभी ज्ञान सर्व प्रकारसे शाश्वत समर्थ नहीं है.

---

called all-powerful The second consideration is the answer to the question. what in reality is power ? In reality whatever is the essential nature of a thing is its power. The essential nature of the soul is to know, to have unlimited knowledge, and that is its power And as knowledge is power, in possessing infinite knowledge he possesses infinite power

So we have seen that although Jainism does not regard Deity as creator and ruler of the universe, nevertheless Jainism acknowledges Deity and advocates worship. It has been shown that God cannot be regarded as creator without also being regarded as unwise or weak; that the fact of there being system and order in the universe is not inconsistent with the Jain idea of Deity, and that the belief in Deity as our creator not only is unnecessary for a virtuous and divine life, but that it positively feeds some of the baser passions, such as meat eating and wine drinking, and lust, on the ground that the creator sent these things for the e of his creatures Thus in defining Deity Jainism does not include among the attributes the quality of being creator and ruler of the world

H. WARREN.

(Jain Gazette.)

सप्तदशोऽधिकारः

भगवानकी प्रतिमा पूजनेसे पुण्य होता है क्या यह बात संभव है ? अजीवसे फल सिद्धि कैसे हो सकती है ?

अजीवकी सेवासे कुछभी न हो वैसी शङ्का मनमें बिलकुलभी नहीं लानी चाहिये. कारण कि, जैसे आकारका निरीक्षण हो वैसे आकर संबंधी धर्म्मका प्रायः मनमें चितवन होता है सम्पूर्ण शुभअङ्गमें विराजत पत्रिका (पूतली) देखनेमें आनाही मोहका कारण है. कामासनकी स्थापनासे कामी जन काम क्रिडा संबंधी विकारका अनुभव करते हैं. योगासनके अवलोकनसे योगीकी मति योगाभ्यासमें होती है. भूगोलसे तद्गत वस्तुकी बुद्धि होती है. लोकनालिसे लोक संस्थिति लोक रचना समझी जाती है. कूर्मचक्र अहिच्चक्र, सूर्यकालानलचक्र, चद्रकालानलचक्र और कोटचक्र इन आकृतियोंसे वहां रहते हुएभी तत्संबंधी ज्ञान होता है. शास्त्र संबंधी वर्णोंको स्थापन करनेसे उन वर्णोंको देखनेवालेको शास्त्रका बोध होता है. नंदीश्वरद्वीप तथा लङ्काके नकशोसे तद्गत संबंधि वस्तुकी चिन्ता होती है. इसी तरह स्वईशकी

प्रतिमा उनके प्रासिद्ध गुणोंके समृतिका कारण भूत होती है. जो वस्तु साक्षात् दृश्य हो उसकी स्थापना करना यह बात वर्तमान समयमें लोक सिद्ध है जैसे जब स्वामी परदेश गया हो तब सती स्त्री पतिके प्रतिमाका दर्शन करती है. रामायणमें एक जगह यहभी लिखा है कि, जब रामचंद्रजी वनवास गये तब भरत नरेश्वर रामकी पादुकाकी पूजा करते थे. सिताभी रामके अंगुलीकी मुद्रिकाका आलिग करके राम प्राप्तीका सुख मानती थी. रामभी सिताका मोलिरत्न प्राप्तकरके सिना पाये बरोबर सुख मानते थे. इसपरसे यह कहनेका है कि किसीके शरीरका आकार न होनेपर अजीव वस्तुआसे उसी प्रकारका सुख प्राप्त होता था. तब ईश्वरकी प्रतिमा सुखके लिये क्यों न हो ? पांडव चरित्रमें यह बात प्रसिद्ध है कि, द्रोणाचार्यकी प्रतिमासे लव्य नामक भीलने अर्जुनके जैसी धनुंविद्या सिद्ध कीथी. चंचादिक (क्षेत्रमें खडीकी हुई पुरुषकृति आदि) अजीव वस्तु होने परभी क्षेत्रादिकी रक्षा करनेमें समर्थ होती हैं पुनः यह बातभी प्रसिद्ध है कि, अशोक वृक्षकी छाया शोकको हरण करती है कलिकी छाया संसारमें कलहको पैदा करती है अजारज पुण्यको हानि करनेवाली होती है. अस्पृ-

चंडाल आदिकी छायाभी उल्लघाय तो यह पुण्यकी हानि करती है सगर्भा स्त्रीकी छाया उल्लंघन करनेवाला भोगी पुरुष के पौरुषको मारती है और महेश्वरकी छाया उल्लंघन करनेवाले पर महेश्वरका रोष होता है इस प्रकार अनेक पदार्थ अजीव होने पर सुख दुःखके हेतु होते हैं तब देवादि देव परमेश्वरकी प्रतिमाभी अजीव होनेपर यहांही सुख दुःखका हेतु क्यों नहो ? यहभी कहना अनुचित है कि, परमेश्वरके दर्शनसे भक्तके पापका हरण होता है; परन्तु प्रतिमाकी पूजा करनेमें आती है सो वह अजीव होनेसे क्या फल देती है ? परमेश्वरकी प्रतिमा अजीव होनेपर भी उसको पूजनेसे पुण्य फल अवश्य प्राप्त होता है. जिसकी जैसी अवस्था गुण विशिष्ट प्रतिमा चित्तमें हो उसके वे २ गुण इस प्रतिमासे संपादन हो सकते हैं. यह वात संसारमें मानी जाती है कि, ग्रहोंकी प्रतिमाके पूजनसे ग्रहों संबंधी फल होता है. सत्तियोंके क्षेत्राधिपकी, पूर्व जो कि, ब्रह्माकी, मुरारि (कृष्ण) की, शिवकी और शक्तिकी स्थापनाको माननेसे हित और नहीं माननेसे अहित होता है. स्तूप (महात्माओंके अग्नि संसकारकी जगह बनाई हुई देरीएं) भी इसी तरह फल देती है. रेवन्त, पश्चि-

मेश और शीतलादिकी प्रतिमाके पूजनसे भी कार्य सिद्ध होता है और कार्मण तथा आकर्पण जाननेवाले मदनादिके निर्जीव पुतलोंपर जिन जीवोंका नाम लेकर विधि करते हैं वे जीव उस विधिसे मूर्छित होजाते हैं इसी तरह स्वईसकी प्रतिमाके नामका गृहण पूर्वक पूजा करनेवाले कुशल पुरुप ज्ञानमय प्रभुको संप्राप्त करते है जैसे कोई स्वामी अपने नौकरोको अपनी मूर्तिका बहुत मान करनेवाला जानकर उसपर तुष्टि-मान होता है. इसीतरह परमेश्वरभी उसकी प्रतिमाके अर्चनसे अर्चित होते प्रसन्न होता है यह सिरफ मिसाल तरीके मानो कारण कि, परमेश्वर तो सदा काल सर्व पर प्रसन्न ही होता है.

ऊपर कहेहुए दृष्टान्तों और दृष्टान्तिकमें महान् विशेष अंतर है. जो देवादि देव कहनेमें आये हैं वे सर्व रागी और पूजाके अर्थी हैं. भगवान परमेश्वर वैसे नहीं यह कैसे ?

तब तो अतीव (बहुतही) उत्तम अनीह (स्पहा रहित) की सेवा तो परमार्थकी सिद्धिके लिये होती है जैसे स्पृहा रहित सिद्ध पुरुपकी सेवा इष्ट लब्धिके लिये होती है.

सिद्ध पुरुष तो साक्षात् वर देते हैं और परमेश्वरकी प्रतिष्ठीत प्रतिमा तो अजीव होती है वह क्या दे सकती है ?

परिपूजनीय द्रव्यमें (पूजने योग्य वस्तुके विषयमें) यह विचार देखनेका नहीं है. जो पूज्य होता है वह पूजाही जाता है. दक्षिणावर्त्त (शंखादि) कामकुंभ, चिन्तामणी और चित्रावली इनमें कौनसी इन्द्रिय हैं कि, उनको पूजनेपर वे लोगोंके धारेहुए फलको देती हैं. जैसे ये अजीव वस्तु होनेसे स्पृहा रहित होने पर स्वभावसे प्राणियोंके कामित (धारीहुई वस्तु) को देते हैं इसी तरह परमेश्वरकी प्रतिमाभी पूजनेसे पुण्य सिद्धि प्राप्त होती है.

दक्षिणावर्त्त प्रमुख पदार्थ अजीव होनेपर भी विशिष्ट जातिके दुर्लभ है इससे उनका आराधन करनेवाले प्राणियोंका धारा हुआ काम वे करते हैं परन्तु परमेश्वरकी प्रतिमा वैसी नहीं है, वह तो सुलभ पाषाण आदिकी बनाई हुई होती है अर्थात् वह उनके सदृश कैसे हो सकती है. ?

जो वस्तु मूल स्वभावसे गुण युक्त प्रतीत हो उसकी व निसवत पंचकृत (पांचोंके मानी हुई) विशेष गुणाढ्य (गु-

णवाली) गिनी जाती है. जैसे कोई राजकुमार प्रायः वीर्यादि गुणका स्थान होनेपर भी उसको निकाल कर दूसरे किसी दुर्बल वशमें उत्पन्न हुए पुरुष उसके पुण्य योगसे प्रमाणिक जानकर पंच लोग उसको गद्दीपर स्थापित करे. तो वह दुसरे पुरुप मूलके राज्य वंशीय परभी शासन हुक्म चलाता है और यदि यह उसका कहना न करे तो नंद राजाकी नाई शिक्षाको प्राप्त होता है. अब मनमें विचार करो कि, मूल राजकुमार गुणी और योग्य होने परभी क्षुद्र कुलमें उत्पन्न हुआ राजा पंच पूजित (मान्य) होनेसे सेवने योग्य होता है. इसी प्रकार चिन्तामणि वस्तु निज स्वभावसे उत्तम होने पर भी परमेश्वरकी प्रतिमा प्रमाणिक पंचोसे पूजित होनेसे प्रथ्वी पर विशेष मान्य होती है देखो [२] वरराजा, महाजन, दत्तपुत्र और ऐसे दुसरे विषयमें पंच जिसको भाग्यकी प्रेरनासे संस्थापित करते हैं वही मान्य होता है. इसी प्रकार स्वपूजा (सौभाग्य नाम !) कर्मके प्रभावसे परमेश्वरकी जो प्रतिमा स्थापन करनेमें आई हो वह पूजने योग्य है.

ऊपर जो पदार्थ कहनेमें आये हैं वे आकार युक्त होनेसे उनको आकृतिको अन्तरात्मामें धारण करके उनके विम्बकी

जो पूजा करनेमें आती है, वह युक्त है; परन्तु भगवानतो निराकार प्रसिद्ध हैं इस लिये उनको बिम्ब विना कैसे पूजे जाय ? ऐसा करनेसे अतद्वस्तुमें तद्ग्रहका (अभगवंतमें यह भगवान है ऐसी बुद्धि करनेका) दोष क्यों न लगे ?

निराकार भगवंतका बिंब तो अवताराकृतिकी रचना है अर्थात् भगवंतका संसारमें अवतार होनेसे महात्माओंने वैसे भगवंतको स्थापित किये हैं और भगवंतकी जो २ अवस्था जिनको रुचि उसी अवस्थामें उनके अर्थी भगवंतको पूजते हैं.

अष्टोदशोऽधिकारः

निराकार भगवंतकी प्रतिमा भी साक्षात् सिद्धिकी नाइ स्वचिताशय (हृदय) में धारीहुई आशाको निःशंक पनेसे विस्तारती है. स्थापना जो है वह स्वचिनसे कल्पी जाती है. वह सत् अथवा असत् (विद्यमान अथवा अविद्यमान) वस्तु की क्यों न हो सर्व स्थापना सेवते समय जैसा अपना भाव हो वैसाही फल देते हैं. इसमें कोई संशय नहीं है. मनुष्य भी

आनाकार वस्तुका आकार बताते हैं जैसे*यह भगवंतकी आज्ञा है इसका जो उल्लंघन करे वह साधु नहीं है और उल्लंघन न करे वह साधु है. आम्नाय (आगम अथवा मंत्र) शास्त्रमेंभी वायु मंडलकी ऐसी आकृति गिनी जाती है. विचार शास्त्रमेंभी स्वरोदयके पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वकी आकृति निकालकर बताई जाती है इसी तरह निराकार सिद्धकाभी आकार-प्रतिमा चाहे क्यों न हो. पुनः देखो संसारमें पहिले जो महात्मा लब्ध वर्ण (साक्षर-विद्वान) होगये हैं उनकी आकृति विनाके वर्णको स्वचितकी कल्पना से ' क ' और ' ख ' इस तरह प्रत्येकके नाम देकर साकार बनाये हैं यदि ऐसा न हो तो वर्ण नियत होते और सर्वकी आकृति एक बरोबर होती परन्तु यह इस तरह पर नहीं है. भिन्न २ ही वर्ण आकृति है उनमें कोई तुल्य नही है. विश्वमें जितने राष्ट्र देश हैं उन सबमें वर्णाकृति अलग २ है परन्तु

---

* इस दृष्टान्तमें भगवंतका प्रताप अमूर्त है और उसकी आज्ञाभी अमूर्त है तो भी सत् पुरुष उसकी रेखा कल्पते हैं पर्यायकार.

व्यक्ति (पठन) समय उपदेश तो एकसा ही होता है और कार्यभी बरोबर ही होता है. इन सर्व लिपियोंको मिथ्या करनेको कोई समर्थ नहीं है. जिनके अंदर जो लिपि सिद्ध है उन २ लिपिसे फल विधान करते हैं अधिक क्या ? जिस नरह बुद्ध पुरुषोंने आकार रहित अक्षरकी आकृति करके उसकी स्थापना अपने २ सुगुप्त (मनमें रहाहुआ) आशय जनानेके लिये भिन्न २ कही है और जिस तरह रागदारीके जानने वालोने रागभी शद्बरूप होनेसे आकार रहित होनेपर उन सर्वकी साकार स्थापना रागमाला नामक ुस्तकमेंकी है इसी तरह सत्पुरुष आनाकार परमेश्वरका आकार कल्पकर जिन२ शुभ आशाओंसे पूजते हैं वे सर्व आशय प्रायः उनको फलते हैं अलिप्त (राग द्वेष रहित) परमेश्वरको जिस तरह पूजा नहीं लगती है उसी तरह निंदा भी नहीं लगती है. जैसा वह करता है ठीक वैसाही स्वकीय आत्माको लगता है वज्रमयी दीवालमें कोई ुष्प मणि अथवा पत्थर फेंके तो दोनो क्षेपकके सामने वापिस जाते हैं. कोई पृथ्वीपर खडा होकर सुर्यके सामने रज अथवा कापूर फेंके तो सर्व उसके सनमुखही आते हैं. सूर्य तरफ किंवा आकाश तरफ कुछ नहीं

जाता है. कोई सर्व भोम राजाकी स्तवना करे तो उस करने वालेकोही फल होता है और कोई निंदा करे तो करने वाला ही जनसमूह समक्ष दुःखी होता है सार्वभोम राजाके स्तुतिसे कुछ अधिक नहीं होता है तथा निंदासे कुछ अधिक्य अथवा कम नहीं होता है. पुनः कोई अपथ्य आहार ले तो वह लेने वाला दुःख भोगता है और पथ्य आहार ले तो लेनेवाला सुख भोगता है आहारमे काममें लाई हुई वस्तुके कुछ नहीं होता है इसी तरह सिद्धिकी पूआ करनेवाले आत्माको लाभ कारी होती है.

नवदशोऽधिकारः

यह कथन योग्य है कि, सिद्ध परमेश्वरकी पूजा करने वालेको फलकी प्राप्ति होती है; परन्तु चिन्तामणी जैसे पदार्थ स्वपूजने वालोंको तत्काल यहांही फल देते हैं इसी तरह परमेश्वरकी प्रतिमाकी पूजा शीघ्र यहांही फल नहीं देती है इसका क्या कारण है?

यह विषय स्थिर चित्तसे विचार करने योग्य है जिस वस्तुके फलनेका जो काल हो उसी कालमें वह वस्तु फलती है. अत्र दृष्टान्त–गर्भ पहिले नहीं परन्तु प्रायः नौ मासमें प्रसुतीको प्राप्त होता है. मंत्र विद्याभी लक्ष और कोटि जपने पर फलती है. वन स्थितिभी अपनी शीघ्रतासे नहीं परन्तु स्वकीय कालसे फलती है यह एक कहावत है कि, शीघ्रतासे आम नहीं फल देते हैं किसी चक्रवर्ती तथा इन्द्रादिकी सेवा की हो तोभी वह कालसे फलती है पारा सिद्धकराना शुरू किया होतोभी कालसे साध्य मान दशाको प्राप्त होता है तथा साध्यमान होने पर फलको देता है. देशके दुसरे व्यवहारिक कामभी उनका काल परिपूर्ण होने पर सिद्ध होते हैं इस तरह यहां कीहुई पूजादिका पुण्य स्वकाल–* भवान्तरमें ही फलदायी होता है. इसलिये देनेवाले पदार्थके सम्बन्धमें

* यह कथन यथा स्थित भाव सहित कीहुई द्रव्य पूजा के महत् फलको उद्देशकर समझना चाहिये. सामान्य पूजाका तो सामान्य फल यहांही इस भवमेंभी मिल सकता है.

दक्ष पुरुषोंको उत्सुकता रखना योग्य नहीं है. चिन्तामणि सदृश पदार्थ ऐहिक हैं और ऐहिक-तुच्छ फलको देनेवाले हैं इससे वे परभवमें नहीं परन्तु इस मनुष्य भवमे फलते है जो प्रायः तुच्छ कालका होता है परन्तु पूजाके फलसे होनेवाला फल वहुत वडा होता है. इस लिये वह वहुत काल परयंत भोगने योग्य होता है और वहुत काल देवादि संबंधी भवान्तर विना नहीं वर्तता है. इस लिये इस पुण्यका फल प्रायः परजन्ममें जाने वाद जीवको उदयमें आता है. यदि इस जन्ममें पुण्यका फल उदयमें आवे तो वह शीघ्र नाशवंत होता है कारण कि, मनुष्यका आयुष्य तो प्रायः अतीव तुच्छ होता है ओर मनुष्य देह विनेश्वर-नाशवंत है इससे महत पुण्यका फल इस भवमें भोगते वीचमें मृत्यु आनेसे तुटजानेका भय रहता है. मध्यमें दुःखकी उत्पत्ति हमेशा महत्तर दुःखके लिये होती है. अर्थात् मृत्यु जैसा अतिशय भीतिदायक कुछ नहीं है अतएव पूजाके फलका महत् फल यहां भोगाजाना उचित्त नहीं है इस लिये पुजाका पुण्य प्रायः अन्य जन्ममें फलता है जैसे अनेक

प्रकारसे परिश्रम करके उत्पन्न कीहुई वस्तु बहुत काल तक अनेक प्रकारसे उपभोगमें आनेपर भीक्षय नहीं होती है इसी प्रकारका पुण्य भोगनेपर यह प्रायः दूसरे जन्ममें उदय होता है. अति उग्र फल साक्षात् यहांही फल देता है. यह एक कहावत है कि, जो सत्यवादी होता है वह चाहे जैसे दिव्य (भयङ्कर प्रतिज्ञा) में कंचनकी नाई संशुद्ध निकल जाता है. जैसे किसी सिद्ध पुरुष अथवा साधु पुरुषको स्वल्पभी दिया हो तो वह सकल अर्थकी सिद्धिके लिये होता है. अर्थात् इस लोक और परलोक सम्बन्धी सर्व सुखका कारण और अनुक्रमसे संसारके बंधनको छोडनेवाला होता है जैसे कोई अनुत्तर (सर्वोत्तम) राजपुत्रादिको किसी प्रसङ्गपर एकादि वार कुछ दिया होतो वह देनेवालेको इष्ट सिद्धि करता है अधिक क्या ? दुष्ट प्रतिपक्षी तरफसे होते हुए मृत्यन्त कष्टभी उसका रक्षण करते हैं इसी अवसरपर एकादिवार पूजादिसे महत् पुण्य उपार्जन कियाहो तो वह इस लोक तथा परलोकमें सत्य सुखकी परंपरा

प्राप्त करनेमें हेतुभूत होता है * शालिभद्रके जीवकी नांई अथवा चोरके नाई एक पुरुषका उपार्जन कियाहुआ अतीव

---

* विक्रम संवत् पूर्व ५४२–४७० के समयमें मगध देशके राजगृह नगरीमें श्रेणिक (वंभसार) के राज्यमें गोभद्र नामक सेठ रहता था. उसके भद्रा नामकी स्त्री थी. जिसने शालिभद्र नामक पुत्रको जन्म दिया था. शालिभद्र पूर्व भवमें शालिग्राममें धन्या नामक दीन स्त्रीका संगम नामक पुत्र था, किसी पर्वपर पडोसीके घर खीर रांधी हुई देखकर उसका मन उसको खाने तरफ रजु हुआ, यह वात पडोशणके जाननेमें आनेसे उसने दुध, चावल, गी और चकरदी जिससे इसकी मा धान्याने खिर पकाई और संगमको पुरस कर वाहिर गई इसी वीचमें एक महीनेके उपवासी साधु भिक्षार्थ लेने वहां आये. संगमने उस मुनिको भावसहित अपने वर्त्तनमेंसे खिर वोहरादी तथा मनमें वहुत हर्ष मनाने लगा. इस पुण्यके योगसे वह मरकर शालिभद्र हुआ था और उसके पिता गोभद्र सेठ दिक्षा लेकर तथा मरकर देवता हुए थे वे हररोज अपने पुत्र तथा स्त्रीके लिये नये २ दिव्य आभूषण भेजते थे–जैनशास्त्र.

उग्र पुण्य अथवा पाप अनेक पुरुषोंके भोगने योग्य होता है. जैसे राजाकी सेवा करने वाला परिवार सहित सुखी होता है और राजाका अपराध करनेवाले परिवार सहित माराजाता है

यदि इस प्रकार परमेश्वरके पूजादिका पुण्य सर्व प्रकारके स्वार्थको साधनेवाला है तो जनसमूहको उसकाही आदर करना चाहिये. परमेश्वरके नामका जप (रटन) करनेमें क्यों प्रवृत्ति करनी चाहिये ?

पुरुषोनेभी ऐसी योजना करनेमें विवेक ही किया है गृहस्थ जो समर्थ है वे द्रव्य और भाव दोनो प्रकारकी पूजाके अधिकारी है परन्तु जो महान् योगी द्रव्यपरिग्रह विना इस संसारमें सदा शोभते हैं उनके लिये परमेश्वरका नाम स्मर्णही युक्त है उससे उनका सब स्वार्थ सिद्ध होता है जैसे जेहरी जानवरके विषसे मुर्छा पाये हुए जीवके विष दूसरोंके किये हुए गारुड–हंस–जांगुली मंत्रके जापसे उतर जाता है इसी तरह तत्त्व न जाननेवालेका पापभी परमेश्वरके नाम स्मरणसे नाश होता है दूसरी यहभी कहावत प्रसिद्ध है कि, हुमायं नामक पक्षी अस्थिभक्षी (हड्डी खानेवाले) होनेपर संतत (सदाकाल) जीवकी रक्षा करते हैं जब वह उडता २ जाता

है और जिसके ऊपर कर्मयोगसे उसकी छाया पडती है वह राजा होता है, यह दृष्टान्त हुमायपक्षी नहीं जानता है कि, मेरेसे अमुकके मस्तकपर छाया होती है तथा जिसके ऊपर छाया होती है वहभी नहीं जानता है कि, मेरे मस्तकपर हुमायपक्षी छाया करता है इस तरह दोनो अज्ञान हैं तथापि हुमायपक्षीके छायाके माहात्म्यके उदयसे वह मनुष्य दारिद्रताका हरण करनेवाला अधीशता (राज्य) उदय पाता है अर्थात् वह राजा होता है जैसे यह दृष्टान्त उभय अनजान होनेपर इस प्रकार फलको देता है तो फिर परमेस्वरके नाम स्मर्णसे पाप कैसे न जाय? अर्थात् जायगा ही. पाप के जानेसे ही सर्वतः (सर्व प्रकारसे) आत्मा शुद्ध होता है. आत्म शुद्धि हो अथवा परमात्म बोध-उत्कृष्टात्म ज्ञान हो परमात्मा बोध होनेपर किसी प्रकारका कर्म बंधन नहीं होता है अर्थात् कर्मका प्रणाश होता है. कर्म प्राणाश होनेपर मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है और मोक्ष होनेपर अक्षय, स्थिति, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुख और एक स्वभावत्वको प्राप्त होता है अर्थात् सज्ज्योति जाग्रत होती है.

विंशोऽधिकार.

मुक्तिके विषयमें सबका कथन एकसा नहीं है ऊपरके अधिकारमें आत्मज्ञान विना मुक्ति नहीं यह जो कहागया है सो ठीक है. आत्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है वैष्णव विष्णुसे ब्रह्मनिष्ट ब्रह्मसे, शैव शिवसे और शक्ति शक्तिसे होनेका कहते हैं उनके विषयमें आत्मज्ञान मुक्तिका कारण नहीं है, परन्तु आत्मज्ञानसेही मुक्ति होती है यह बात निश्चय नहीं है. तो भी आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है. क्या इसका निश्चय विचारने योग्य है ?

वैष्णवादि संसार रुढिको लेकर विष्णु प्रमुख भिन्न २ देखते हैं परन्तु परमार्थसे विष्णु आदि शब्दोसे यह आत्माही वाच्य-बोध्य-समझना योग्य है. आत्माको केवल ज्ञान प्राप्त होता है तब सर्व लोकालोकका स्वरूप उसके जाननेमें आता है ज्ञानही आत्मामें सर्वत्र व्याप्त होनेसे आत्माही विष्णु है. निज शुद्ध आत्मभाव जिन्हे परब्रह्म जैसी संज्ञा देनेमें आती है उसकी भावना भानेसे आत्माही परम ब्रह्म है. शिव-निर्वाण-मोक्ष प्राप्त करनेसे और शिवका कारण होनेसे

आत्मा ही शिव है निज आत्मवीर्य शक्ति काममें लानेसे आत्माही शक्ति है इस तरह विश्नु प्रमुख शब्दोंसे आत्मा ही समझना और आत्मा-आत्मज्ञानसेही मुक्ति है. दूसरे किसी तरह मुक्ति नहीं प्राप्त होनेकी है. इस तत्त्वका स्वहृदयमें विविचार करना चाहिये. यदि आत्मज्ञानसे मुक्ति नहीं होती है और विष्णु प्रमुखसे मुक्ति होती है तो वैष्णवादि संत और गृहस्थोंको विष्णु प्रमुख पूजा और जपको करना चाहिये, परन्तु तप, संयम, निःसंगता, रागरोषका निर्वाण, पंचेन्द्रियोंके विषयमें विराम, ध्यान और आत्मज्ञानादि क्या काम करते है ? यदि यह कहा जाय कि; तप संयमादि यही विष्णु प्रमुखकी सेवा है तो वे किससे प्रवृतिमें लाई जाय ? यदि विष्णु प्रमुखकी कही जाय तो उसके पाणि, हाथ नहीं है कि, जिससे वे किसी दूसरेको ज्ञात कर सके यदि विष्णु प्रमुखके ध्यान करनेवाले योगियोंसे इसकी प्रवृति हुई तो उन्होने किससे प्राप्त किया? यदि आत्म भोगसे होतो उसका प्रेणता कौन हुआ ? निरंजन और निष्क्रिय विष्णु प्रमुखतो कहने योग्य नहीं है तो आत्म योग किसे आर्पिभाव हुआ ? यदि आदि योगियोंसे ऐसा कहाजाय तो उन्होंने भी आत्म ज्ञानसे आत्मयोग जाना. दूसरे

किसीसे नहीं इसी तरह निरिंद्रिय, निष्क्रिय. निरंजन, और एक स्वरूप विष्णु प्रभुखसे भी नहीं कहना पडेगा. स्वआत्मासे समभाव आनेसे रागद्वेष जाता है और राग द्वेष जानेसे अपूर्व आत्म लाभसे और सर्व द्रव्यके यथास्थित दर्शनसे जो ज्ञान होता है वहही आध्यात्म योग है इस तरह अध्यात्म योग स्वतः ही सिद्ध है और अध्यात्म योगसे ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं विष्णु प्रभुख दूसरा कोई मुक्तिका हेतु नहीं है इसलिये आत्मज्ञानकी स्पृहा इच्छा करना योग्य है. स्वभाव से मुक्तिका होना कहा जाय उसमेभी यही अर्थ निवेदन किया जाता है. स्वनो आत्मा उसका भाव वह स्वभाव है. भाव शब्दका अर्थ प्राप्त करना है वह भू धातुसे बना है इस लिये उसका अर्थ प्राप्ति करनाही योग्य है. स्वभावका अर्थ आत्मप्राप्ति—आत्मलाभ—आत्मज्ञान होता है इस प्रकार सर्व मुक्तिके इच्छावालोंको आत्मज्ञानसे मुक्तिकी इच्छा करना योग्य है. प्रकृष्ट गुणयुक्त महात्माओंने मुक्तिका निमित्त आत्मज्ञान विना दूसरा कुछभी निवेदन नहीं किया है उनका कहना इस प्रकार है जहांतक कषाय और विषयका सेवन करेगा तहांतक आत्मा इस संसारमेंही परिभ्रमण करेगा और

आत्मज्ञान होनेसे जब आत्मा कषाय विषयसे—कर्मसे मुक्त हो तब यह आत्मा मोक्षत्वको प्राप्त होता है. ज्ञान दर्शन और चारित्रभी यह आत्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है ज्ञानादीमय यह आत्मा जहां तक कर्मयुक्त होता है तहां तक शरीरका आश्रय लेता है और जब मोहके क्षय होने पूर्वक आत्मशक्ती आत्मज्ञान प्रगट होनेसे आत्मामें आत्माको सम्यक प्रकारसे जानते है तब उसको ज्ञान, दर्शन और चारित्र उदयमें आया हुआ आत्मज्ञानी आप्त कहते हैं आत्मज्ञान विनाके अनेक कष्टाचरणसेभी अनिवार्य जैसा अज्ञापनासे उत्पन्न हुआ अनंता कालका जो दुःख वह आत्मज्ञानसे निवारण होता है. चिद्रूप यह आत्मा कर्मके प्रभावसे जहांतक शरीरका अदिष्ठान करे तहांतक शरीरी है और जब अध्यान रूप अग्निसे समस्त कर्म इधनको जलाकर शुद्ध हो तब यही निरंजन. अभीतकके प्रबन्धसे इतना सिद्ध हुआ कि, सिद्धि मुक्तिके लिये अत्मज्ञान विना दूसरा कोई रास्ता नहीं है इस लिये यह मार्ग पकडनेका यत्न करना चाहिये कि, जिससे आत्माको महोदयमें स्थान हो.

ऊपर राज योगसे मोक्ष मिलने जैसा मार्ग बताया गया

है, जो जैन आगम और युक्तिसे सिद्ध है और एकान्त उत्सर्ग अथवा एकान्त अपवाद रूप हठसे रहित है. परन्तु मुक्तिका कोई ऐसा सरल मार्ग है कि, जो सर्व मत-दर्शनानुसार और अध्यात्म विद्याको प्राप्त करनेमें हेतुभूत हो और जिसे श्रम विना शीघ्र आत्मज्ञान हो सके ?

सिद्धान्त और वेदान्त रहस्यभूत मुक्तिका समर्थ मार्ग कहा जाता है उसे सुनो. मुक्तिके इच्छा वाले मनुष्यको स्वचितमें ऐसा विचार करना चाहिये कि, यह आत्मा शुद्धबुद्ध युक्त. निरंजनादि योगी लोग कहते हैं तब यह मुक्त होतेहुए किसे कैसे बंधनमें आती है इस परसे विदित होगा कि (भ्रमसे भ्रमकाही आद्य योगी लोग कर्म, मोह, अविद्या, कर्त्ता, माया, गुण, दैव, मिथ्या, अज्ञानादि शब्दोंसे बता गये हैं और इनको जानने वाले साद्योगी लोगभी इन शब्दोंको भ्रमके अर्थमेंही काममें लाते है भ्रमसेही आत्म बंधनमें आता है* भ्रम यहां अपनी मिथ्या कल्पनासे हुआ जानना चाहिये. जैसे नलिनीशुक और मर्कट भ्रमसे बंधनमें आते हैं इसी तरह यह आत्माभी भ्रमसे बंधनमे आता है, जब मनमें

से भ्रम जाता है तब यह आत्मा मुक्त होता है और मुक्त होनेपर आत्मा और परमात्माका एक भाव दिखता है तब योगी आत्मज्ञानी कहलाता है वही केवलज्ञानमय कर्म क्रिया भ्रांतिसे विमुक्त मुनिस्वर कहलाता है यह आत्मा मुक्त भ्रम रहित प्रसिद्ध होता है तब वह सर्वत्र ममत्वरहित होता है अधिक क्या? मन–शरीर–सुख–दुःख–ज्ञान विचारसे यह शुन्य होता है इसी तरह मुक्त होनेसे इसको पुण्य पाप नहीं लगते हैं, मनकी जय करनेसे यह मेरी क्रिया, यह मेरी क्रिया, यह मेरों काल, यह मेरा संग, यह मेरा सुकृतादि भेदभी उसके नहीं होते हैं. जहां तक वह इस संसारमें शरीर धारी होता है वहां तक उसकी क्रिया सूक्षम होती है अर्थात् वह निष्क्रिय नहीं होता है जब सूक्षम क्रियाभी नष्ठ होती है तब वह मुक्त भ्रमरहित आत्मा सिद्धता प्राप्त होनेसे सिद्ध होता है. सिद्ध क्रियावंन या निष्क्रिय है, यह विचारने योग्य है, निष्क्रिय कहाते सिद्धमें ज्ञान और दर्शनसे होती हुइ क्रिया कैसे सिद्ध न हो?

ज्ञान और दर्शनसे होनेवाली क्रिया सिद्धत्वको प्राप्त किये हुए सिद्धोमें नहीं होती है यदि पूछा जाय कि, किस

तरह ? तो इसके उत्तरमें यही कहनेका है कि, सिद्धको प्राप्त किया हुए आत्माको इस संसारमें कैवल्यकी प्राप्ति होती है केवलज्ञान और केवलदर्शन हुआथा तबही ज्ञान और द-र्शनसे होती हुइ दो क्रियाए उसको एकही समयमे प्राप्त हो गई थी और जानने योग्य तथा देखने योग्य भूत, भविश्य तथा वर्त्तमान तीनो कालके जो २ सर्व भाव प्रगट हुए थे उनके लिये नया कुछभी जानने तथा देखनेका होता नहीं है अर्थात् मुक्त भ्रमरहित जीव इस मनुष्य भवमें सक्रियत्व होते हैं और सिद्धमें निष्क्रियत्व होता है इस परसे सिद्धमें अच्छी तरहसे निश्चयं पूर्वक निष्क्रियता सिद्ध हुई और इन सर्वका हेतु मनो निरोध-योग है अतएव यही मार्ग रमण करना चाहिये.

चारित्रचुडामणि सकलसद्गुण गरिष्ठ महात्माजी मुनिराज श्री श्री श्री १००८ श्री श्री जयविजयजी महाराजके चरणोपासक श्रावकः शिष्य शेठ केसरीमलजी भूताजी पालडी निवासी संग्रह कृत.

A PRAYER.

SHAKE, SHAKE, OFF DELUSION!

WAKE, WAKE UP / BE FREE!

LIBERTY! LIBERTY! LIBERTY!

Fade, fade, each earthly joy. Mahavir is mine!

Break all useless ties: Mahavir is mine!

Dark is the wilderness,
'Earth has no resting-place?

Mahavir alone can bless, Mahavir is mine!
Tempt not my soul away; Mahavir is mine!
Here would I ever stay; Mahavir is mine?

Perishing things of clay,
Born but for one brief day,

Pass from my heart away! Mahavir is mine!
Farewell, Ye dreams of 'Night' Mahavir is mine?
Lost in this dawning 'Light' Mahavir is mine?

All that my soul has tried
Let but a dismal void;

Mahavir has satisfied, Mahavir is mine?
Farewell, mortality? Mahavir is mine?
Welcome, eternity? Mahavir is mine!

Welcome, O Love and Light
Welcome all-pervading Might

Welcome, my Saviour's sight; Mahavir is mine?

THE JAINA MORNING PRAYER.

I bow to the Highest *Jina*,
Whose eyes resemble the lotus,
Whose body a thousand and eight
Distinctions do adorn.
I bow to *Shanti Jinendra*,
Whose face has the moon's effulgence,
Purity, goodness, charater,
And law in whom find shelter.
Desirous of perfect peace
I bow to *Tirthankara* the XVI,
From Him all peace proceeds,
And stands He fifth among
Those who obtained the *Chakra*,
So much desired for
Worshipped He was by assemblies
Of *Indra* and *Narendrat.*
The Divine Tree *Ashoka*,
Downpour of celestial flowers,
The music of gods,
High seat and shout of triumph,
Extending for miles abroad,
The sunshade and pair of *Chamars*,

The surrounding halo cf glory,—
These are his eight miracless.
To Lord *Jinendra, Shri Shânta*
The worshipped of all the worlds,
The giver of peoce and joy,
I bow down my humble head.
Peace eternal may He award
To all the beings on earth
May I obtain by His favour
The highest gift of *Nirvana*.
Worshipped by *Indras* and the gods,
Be-jewelledwithear-rings,necklaceandcrown,
May the *Tirthankaras* bestow
Peace eternal all round
Born of noble families
They gave light unto the world,
Their lotus feet are adored
By legions of gods celestial.
On worshippers and believers,
High saints and general devotees,

On ruler, town, kingdom, and country
Bestow peace O Glorious *Jinendra* !
Blessed be all subjects,
And the ruler just and strong,
May rains be good and timely,
And all diseases cease !
May famine, theft and pestilence
Not vex the people for a second,
May *Chakra* divine of *Jinendra*
Give joy to the world around !
Lords *jinas* commencing from *Rishabha*
Destroyers of deadly karmas
Radiators of Perfect Knowledge
To earth may Happiness bring !

AJIT PRASADA M. A. LL. B

AN AWAKENING.

BY KUMAR DEVENDRA PRASAD JAIN—*Arrah.*

Lord Vira the Effulgent one Divine
Where art thou fled ? Where gone thy noble band
Tirthankaras, Jinas, the Lords of Heart !

That marched their mighty pace in days of yore?
Gone, gone are they in dark oblivion lost?
For *Lord*! my eyes I ope but naught I find
Those goodly times and godly men sublime
But fragments of the now forgotten faith
Of wrecks sublime, now scattered in the chime
The shadow of a dream! Oh! withering creed!
In raptures whist the Hindu wends his way
To altar great his heart and head to lay
Behold to mosques and churches how they go,
The moslem Christian, both high and low.
But alas! Votaries of a withering faith,
What ails ye sirs? No fire ye up to stir!
Oh! how it galls my heart and senses thrill
To see ye roll in placid halls, yet still
Yearning only for worldly power and pelf
Dead to Duty's call and dead to self.
What leasure would it be in glee to die
Than see this sullen gloom unrent and sigh
Yet God and Lord! O preacher of the Truth
Rouse themo these are the sullen slug-a-beds
To the transcendant Virtues of Sacred Love
Breathe life into their wearied frame and limb
Now this my prayer be and this my theme.

PEACE TO ME!! PEACE TO ALL!!!

Prayer to God ?

दीनदयालु नाथ निरंजन, नाथ दया निधि आप अहोरी ।
दीनानाथ दीनके रक्षक, दीनकृपालु आप अहोरी ॥ १ ॥
घोर विपतमें आनपडी है, पारकरो मेरी नैया डूबोरी ॥

नाथ निरंजन भव दुःख भंजन,
नाथ कृपानिधि आप अहोरी ॥ २ ॥
नहीं कोई खेवट नहीं कोई मल्ला ।
हे पार करै पान कोई अहोरी ॥
नाथ पधारो पारकरो नैया,
घोर भवरमें आन पडोरी ॥ ३ ॥
अधवीच डुवत जावत नैया ।
सहायक कोई है मोरो अहोरी ॥
इष्ट हमारे वीर प्रभु हो ।
अबतो मुझको शरण लहोरी ॥ ४ ॥
मै दास तुम्हारो स्वामी हमारे ।
शरणागतके रक्षक वनोरी ॥

नाथ हमारे वीर प्रभु हो ।
घटमें आन बिराज रहोरी ॥ ५ ॥
दीन द्वारपे आन खडा है ।
भक्ती दानकी भीक्षा दहोरी ॥
वीर प्रभुहो वीर प्रभु हो ।
क्षेमकी अरजी सुन लहोरी ॥ ६ ॥

॥ समाप्त ॥

Prayer to Lord Maha Veer Bhagwan ?

हे जग तात जगत शुभ करता,
श्री वीर हमपर दयाकरो ।
ज्ञान निधान कृपा कर स्वामी ।
शुभ मति दे सब दुःख हरो ॥ १ ॥
श्री जैन शाशन हमारा प्यारा ।
इसके आप ही रक्षक हो ।
घोर दुविधामें आन पडा है ।
पार करो जो तार चहो ॥ २ ॥

काल राज शासन है करता ।
क्रोध मान आदि मंत्री अहे ।
पापकी सेना बनी इस जगमें ।
हरदम जनको लूट चहे ॥ ३ ॥

सत्य राज पद धारिये दाता ।
पुन्य तुम्हारा मंत्री लहे ॥
क्षमा आदि चतुरंग बने सब ।
निज कर ज्ञान खडग लहै ॥ ४ ॥

काल सेन रण क्षेत्रमें सोवे ।
काल मंत्री सब नष्ट अहो ॥
यह है बिन्ती हमारी स्वामी ।
सत्य अहे तो सुन लहो ॥ ५ ॥

हे जगतात जगत हित करता ।
श्री वीर हमपर दया करो ॥
ज्ञान निधान कृपाकर स्वामी
शुभमति दे सब दुःख हरो ॥ ६ ॥

खरो श्रावक नथी एतो.

॥ कव्वाली ॥

धराव्युं नाम श्रावकनुं, नथी आचारने श्रद्धा,
जिनाज्ञानी नथी परवा, खरो श्रावक नथी एतो ॥ १ ॥

गुरुवरनी नथी भक्ति, नथी भक्ति जिनेन्द्रोनी ।
प्रपंचोथी उदर भरवुं, खरो श्रावक नथी एतो ॥ २ ॥

नथी गंभीरता मनमां, नथी मध्यस्थता मनमां ।
नथी सत्तर गुणो जेमां, खरो श्रावक नथी एतो ॥ ३ ॥

वदे जुठुं करे चोरी, व्यभिचारी अनाचारी ।
हृदय जूदुं वदे जूदुं, खरो श्रावक नथी एतो ॥ ४ ॥

गुरु निन्दाकरे पाछळ, धरे आचार नहि सारो ।
विनयथी हीन इर्ष्याळु, खरो श्रावक नथी एतो ॥ ५ ॥

समज नहि जैन तत्त्वोनी, गुरु वंदन करे नहि जे ॥
गुरु आज्ञा धरे नहि दील, खरो श्रावक नथी एतो ॥६॥

उपरथी साचवे किंचित्, नथी साधर्मीनी भक्ति ।
नथी सुणतो गुरु व्याख्यान, खरो श्रावक नथी एतो ७

गुरुना दोष खोळे छे, नथी सेवा नथी नीति ।
स्वच्छंदी धर्मनुं नहि भान, खरो श्रावक नथी एतो ॥८॥

भमायो भूतवत् भमतो हृदयनो शून्यने मूढज ।
निरक्षर डोळ डाह्यो जे, खरो श्रावक नथी एतो ॥९॥

गुरुथी बने डाह्यो, नथी आगम उपर श्रद्धा ।
कुतर्कोथी करे झगडा, खरो श्रावक नथी एतो ॥ १० ॥

कहुं आदेश विरतिनी, अपेक्षा लेइने सघळुं ।
यथा शक्ति गुणो धारे, खरो श्रावक नथी एतो ॥११॥

नथी अहंकार लक्ष्मीनो, नथी अहंकार विद्यानो ।
अधिकारे करे सघळुं, खरो श्रावक बने एतो ॥ १२ ॥

पडे जो प्राण तो पणजे, गुरु श्रद्धा नहीं छोडे ।
"बुद्ध्यब्धि" साधुनो सेवक, खरो श्रावक नथी एतो ॥१३॥

॥ अथ स्तवन ॥

जिन नामकुं समर ले प्राणी, बखत पाया है ।
फिर हाथ नहीं आवे, सद्गुरु बताया है ॥
प्रभु नामकुं समरले प्राणी, बखत पाया है ।

तुं कहता है के मेरी मेरी, तेरी कौन है ॥
या दमका क्या भरोसा, कछु नेकी करले ॥ जिन० ॥१॥
रावण सरिखे होगए, जिनके वडे अभिमान ।
सो पलमें छीनलीनो, तव तेरा क्या गुमान ॥जिन॥२॥
मायाके निशेमें वे फिकर हो रहा, माया संग न
चलेगी, क्या निंदमें सोया ॥ जिन० ॥ ३ ॥
तुं कहता है के मगनरूप, समज यार मन्न ।
प्रभुनाम मान सच्चा, जुठा हे सवि तन्न ॥ जिन० ॥४॥

॥ पद ॥

॥अव याकर या सवज परिका सलाम है॥ ए देशी॥

शांतिनाथ शोलमा, अव दरश मोहे देओ ।
अव दरश मोहे देओ प्रभु, अव दरश० ॥
गर्भमें तो आके प्रभु, सारे सहुं काज ।
मरकी रोग दूरकीये, आप जिनराज ॥ शांति० ॥ १ ॥
आप हो सनाथ प्रभु, में गरिव अनाथ ।
दुःखकी में वात कहुं, जोडी दोनुं हाथ ॥ शांति० ॥२॥

आठ पांच वस होइ, चार फिरुं राज ।
अवकी तो सरन लीये, राखो मोरी लाज ॥ शां० ॥३॥
जैसे पारेवा पर, करुणा करी राज ।
तैसे मैरे मनकी प्रभु, पूरो सहुं आज ॥ शां० ॥ ४ ॥
चंद केशरी तो प्रभु, गुन तेरा गावे ॥
जैन प्रकाश मंडली तो, लक्ष्मी पद पावे ॥ शां० ॥५॥

॥ पालडीनगरे ॥ समापत् ॥

॥ पद ॥

॥ मैंतो साहाजादेकुं ढुढण चलियां ॥ य चाल ॥

मैंतो जोति फिरुं जिनरायारे, नेम श्याम नही पायारे ॥ मैं०॥
एक वन ढुंढदूजो वनदूंढयो । मैंतो ढूंढलीया वन सारारे॥ने १॥
वनमृग पिंजर सुवाजुरु, मेरे नयनसै नीर वहायारे ॥ने०॥२॥
पांवमें पिजनी गले वीचमाला, मैंतो सेल्हीको स्वांगवनायारे ।ने। ३।
चैन विजय कहे धनधन राजुल, मैंतो प्रभु चरण चित्त
लायारे ॥ नेम० ॥ ४ ॥

॥ समाप्त ॥

॥ पद ॥ काफी रागणी ॥

पंथीडा पंथे चलेगो, प्रभु भजले दिन चार ॥ पंथी० ॥
क्या ले आया क्या ले जाशे, पाप पुण्य दोय लार ॥पं०॥१॥
वालपणे आयो खेल गमायो, यौवन माया जाल ॥पं०॥२॥
वूढापणो आयो धर्मन पायो, फरी पीछे पछताय ॥पं०॥३॥
दया मया कर पारस मगसी, अब तेरो आधार ॥पंथी.॥४॥

॥ पद ॥

होरी खेलो नेमसें धाय धाय, दुर्जेकी लाज मेरी करेरे वलाय ॥ ॥ होरी० ॥ ज्ञान गुलाल अवीर ऊडावो, क्षमा करो रंग लाय लाय ॥ दुर्जन० ॥ १ ॥ शील संयम व्रत पान मीठाई, ध्यान धरुंगी में गाय गाय ॥ दुर्जन० ॥ २ ॥ अष्ट कर्मकी खेह उडावुं, ज्ञान हीये में लाय लाय ॥ दुर्जन० ॥ ३ ॥ हरख चंदकी एह विनंति, सरण ग्रही में तेरी भाय भाय दु० ॥४॥

॥ अथ श्री वैराग्य सज्झाय ॥

किसीकुं सवदिन सरखे न होय। प्रहउगत अस्तंगत दिनकर ॥ दिनमें अवस्था दोय ॥ कि० ॥ १ ॥ हरि वलिभद्र पांडव

नल राजा, रहे खट खंड रिद्धि खोय ॥ चडालके घर पाणी
आण्यु, राजा हरिचंद जोय ॥ कि० ॥ २ ॥
गर्वमकर मूढ गमारा, चडत पडत सब कोय ॥
समय सुंदर कहे इतर परत सुख, साचो जिन धर्म सोय ॥
किसीकुं सब दिन सरखे न होय ॥ ३ ॥

॥ समाप्त ॥

॥ जबुद्वीप वर्णन गर्भित श्री सीमंधर जीन स्तवन ॥

मारी विनतडी अवधारो साहेब, सीमधर महाराज ।
त्रिभुवन साहेब अरज सुणज्यो; दरिशन देजो आज ॥
दरिशन देजो महेर करीजो, अरज सुणजो राज, मा० ॥१॥
आपवस्या माहा विदेह क्षेत्रमां, हुं इण भरत मोजार ।
आ मेळो केम होशे साहिब, एही सबल विचार ॥मा०॥२॥
भरत विचाळे पर्वत आडो, लांबो छे वैताढ्य ।
पचीश जोजन तो उंचो छे, पचास योजन विस्तार ॥मा॥३॥
गंगासिंधु दोनुं नदियां, आडी छे कीरतार ।
सहस अठावीस वीजो नदियां, ए वेहुनो परिवार ॥मा०॥४॥

इण आगळ वळी परवत आडो, चुलहेमवंत नाम ।
एक सहस वली बावन योजन, बार कळा अभिराम ।।मा।५।।
क्षेत्र हेमवंत वली प्रभु आडो, जुगलीयां करोवास ।
एकवीस सहस वली पांच योजन, पांचकला सुवीलास ।।६।।
रोहिताने वली रोहितांशा, नदीओ एमां असराल ।
छप्पन सहस वली वीजी नदीओ, आवुं केम कुशाल ।। ७ ।।
महा हेम वली परवत आडो, मोटो अति विस्तार ।
चार सहस दोयसें दश जोजन, दशकळा विस्तार ।।मा।।८।।
आठ सहस शत चार अनोपम, एकवीस जोजन ताम ।
एक कलावली रुप प्रमाण, खेत्र छे हरिवर्ष नाम ।। मा।।९।।
हरि कांताने हरि सलीला, नदीयो छे प्रत्यक्ष ।
वीजी नदियो आडी छे प्रभु, सहस वार एक लक्ष ।।मा।१०।।
परवत निषेध छे वली आडो, योजन बहु विस्तार ।
सोल सहस सत आठ वेंतालीस, दोय कला मनोहार ।।११।।
क्षेत्र छे वली युगलीयां केरो, देव कुरु इण नाम ।
अगीयार सहस आठसें वेंतालीश, बेकला पोलो सुणस्वाम १२
सीता नामें नदी वडेरी, सव नदीयोमां सरदार ।

पांचलाख वली बीजी नदीयो, अने बत्रीस हजार ॥मा॥१३॥

लाख योजननो मेरु पर्वत, नाम सुदर्शन सार ।
गजदंत तावली मारग विचमें, आवुं केम महाराज ॥ मा॥१४॥

तेत्रीश सहस वशे नव योजन, उपर छ कला लांबा ।
पांचशे योजन पहोळा गजदंता, चारशे पांचशें ऊँचा, ॥१५॥

वन गिरीने परवत बहोळा, नदीयां ओघट घाट ।
किणविध आवुं सुगुण साहीबा, मारग विषमो वाट ॥मा॥१६॥

कंचन गिरि वखारा पर्वत, शत जोजन उंचा कहेवाय ।
बसें कंचन गिरि पंचशत उंचा, केम उलंघ्या जाय ॥मा॥१७॥

भद्रशाळ वन पूरव पश्चिम, बावीस सहस कहेवाय ।
वशे पचास दक्षीण उत्तर, आवुं केणे उपाय ॥ मा० ॥ १८॥

कीहां मुज दक्षीण भरत क्षेत्रने, कीहां पुष्कलावती ।
ए मेलो केम होशे साहिब, तारण तरण जहाज ॥मा०॥१९॥

निशदिन मारे तुंही आलंबन, बशीयो हृदय मोजार ।
भवदुःख भंजन तुंही निरंजन, करुणा रस भंडार ॥मा॥२०॥

मन वांछित सुख संपती पूरो, पूरो मननी आशा ॥
खरतर हर्ष गुरु सुपसाये, सरुपचंद गुण गाया ॥ मा० ॥२१॥

अगरचंद कीसरी जिनवरजी, तारो दीन दयाल ।
नित्य नित्य वंदना होजो मारी एहीज छे अरदास ॥मा॥२२॥
संवत अढारसें एकवीसें, पोषवदी शुभमास ।
वीजदीन बुधवार अनोपम, जिनपद वंदन भाष ॥मा०॥२३॥

॥ इति श्रीसामधर जिन स्तवन ॥

॥ पद ॥

पारसनाथ आधार प्रभु मेरो, पारसनाथ आधार ॥ टेक ॥
आ भव परभव वंछित पूरे, शिवपदको दातार ॥प्र०॥१॥
वामाजीको नंदन निरख्या, ते पाम्या भव पार ॥प्र०॥२॥
कहत शामलप्रभु आशा पूरो मेरे मनकी सेवकनी करो
सार ॥ प्र०॥ ३ ॥ समाप्त ॥

॥ पद ॥

॥ प्रभु मेहेर करो हम ऊपरे ॥ ए देशी ॥

आदि जिन स्वामी पुजा करूं राज, केसर घोली भरीय कचोली ॥ आ० ॥ १ ॥ चरण पखालुं आंगी रचावुं, माला

पहेरावुं मोतीडे वधावुं ॥ आ० ॥ २ ॥ पूर्वनवाणुं शेत्रुंजा, आदिनाथ आव्या जग जस पाया ॥ ३ ॥ एणे गिरि सीधा साधु अनंता, मोक्ष पद पाया तीरथ कहाया ॥आ०।४॥ जैन प्रकाशक मंडलीकरे अरदास, संघनी पुरो आस गुण गावे प्रभुदास ॥ आ० ॥ ५ ॥ समाप्त ॥

॥ पद ॥

॥ मेरी आंखियां फरकन लागे ॥ ए रागमां ॥

अखीयां मेरी प्रभूजीसें आज लगी, भला आज लगी अखीयां ॥ मे० ॥ टेक ॥ पावापुर श्रीवीर जिनेसर, देखत दुर्गति दूर टली ॥ अखी० ॥ १ ॥ मस्तक मुकूटसोहे मनमोहन, विच विच हीरा मोती लाल जडी ॥ अखी० ॥२॥ रत्न जडीत दोय कुंडल सोहे, गले विच मोतीयन माल पडी ॥ अखी० ॥ ३ ॥ हरखचंद कहे प्रभूसाहेब, चरन न छोडुं पल एक घडी ॥ अखी० ॥ ४ ॥

॥ पद ॥

॥ अरे लालदेव इस तरफ जलद आ ॥ ए रागमां ॥

गईथी गईथी में मंदीर आज, वां बेठेथे श्रीजिनराज ॥१॥

कहा कहूं आंगीकी अजब बहार, मन प्रसंन्न भया प्रभुकुं निहार ॥ २ ॥

मस्तकमें सोहे मुकुट अतिसार, कानोंमें कुंडलका हे जणकार ॥ ३ ॥

गले बीच माला सोहे मोतिकी, बाजु कडा कंठी सोहे नीकी ॥ ४ ॥

सोनेके सिंघासन पर बेठे हे राज, फूलुंका सुगंध भया अति आज ॥ ५ ॥

एसें साहेब संभव जिनराज, करूंमे प्रणाम पूरोमन काज ॥६॥

कल्याण निधानकी पुरोआश, चंद गोपाल तुमारो है दास॥७॥

॥ आत्मबोधक पद ॥

सद्गुरुने मोहे भांग पीलाई ।
अखीयांमें आगई लाली ॥ सद० ॥

भावकी भांग मीरमकी मीरची घुटणवाला मेरा सांइ ॥
कीरियाकी कुंडी ज्ञानका घोटा सीयलकी साफी बनाई ॥

अयसी भांग पीवत सुघडनर अजरामर हो जाइ ॥
सद्गुरु कहत मेल मन ममता मोक्ष नीधानने पाइ ॥१॥

॥ ऊपदेशी पद ॥

मुरखो गाडी देखी मलकाये, उमरतारी रेतलणी पेरे जाये;
संसार रुपनी गाडी वनीने, राग द्वेष दोय पाटा,
देह डब्बाने पळे पळे पइडां, तेम फरे छे आउखामां आटा;
कर्म अंजीनमां कषाय अगनीने विषयवारी मांही भरीयुं,
त्रसनुं भुगळुं आगळ करयुं, एतो चारे गतीमां फरीयुं;
प्रेमजरूपी आंकडा वळगाड्याने डब्बे डब्बा जोडया भाइ,
पूरव भवनी खरची लईने चेतन बेसाडुं बेठा मांही;
कोईए टीकीट लीधी नरक तिर्यंचनी कोइए लीधी मनुष्यदेवा,
कोइए टीकीट लीधी सीधगतिनी पामवा अमृत मेवा—
घडी घडी घडीयाळो जगावे नीसदीन एम वही जावे,
बोले सीटीने चाले आगगाडी, आडा अवळा माइल आवे—
आयुष्यरूपी आव्युं स्टेशन हंसलोते हालु हालु थाय.
पापेभरी पाकीट लइजातां, काळकोटवाळ पकडी जाय—

लाख चोरासी जीवायोनि मांही जीवडो फरी फरी आवे,
सद्गुरुनो जे धरम आरधे तेनिश्चय शीव पावे—

॥ श्री रिषभदेव स्वामीनो स्तवन ॥

सयन सलुने लाल चरन न छोडुं ताल,
मेरेतो अजबमाल तेरोही भजन हय;
दोलत न चाहुं दाम कामसु न मेरे काम,
नाम तेरो आठोजाम जीवको रंजन हय.
तेरेहुं अधीन लीन जलज्युं मगनमीन,
तीन जग केरो प्रभु दुःखको भंजन हय;
नाभी मरु देवानंद, नयन आनंद चंद.
चरण विनय तेरो अमीको अंजन हय,

॥ आत्मबोध पद ॥

तन वस्त्रको तें रंग लगायो, मनको रंग न लागोरे;
खरको खाल पीनाइ सिंहकी, ऊनको सुभाव न भागोरे.
साधु श्रावकको नाम धरायो, दरसन बीन रह्यो नागोरे,

साची सीखामण सुणोजी सुत्रकी भव्यजीवो कोई जागोरे.

सुक्रत काज रति नहीं साजियो पाप करनको लागोरे;

जन्म खोयो " जीनदास " अकारज, मोटो लगायो डागोरे.

॥ अथ रूषभ जीन स्तवन ॥

नैना सफल भई, में निरख्या नाभिकुमार;

अखीयां सफल भई ॥ में० ॥

भवो भव भटकत सरन हुं आयो,

अवतो राखोने मोरी लाज ॥ नैना० ॥ में० ॥ १ ॥

रोम रोम आनंद भयो मेरे, अशुभ करम गये भाज

॥ नैना० ॥ मे० ॥ २ ॥

और चाहन कछु रह्यो नहीं मेरे, पायक गजरथ

वाज ॥ नैना० ॥ में० ॥ ३ ॥

रामचंद्र प्रभु एह मागत है, लोक शिखरको राज

॥ नैना० ॥ में० ॥ ४ ॥ इति ॥

॥ अथ नेमनाथ जिन स्तवन ॥

सुनो मेरे नेमजी प्यारे, द्रगनसे मत रहो न्यारे ॥सु०॥१॥ ए आंकणी ॥ पचरंगी पाग सीर सोहीये, गले फुलमाळ मनमोहिये ॥ सुनो० ॥ २ ॥ दयाकरी दरिसन मुज दीजें, मयाकरी अपनो कर लीजें ॥ सुनो० ॥ ३ ॥ जिनदास बंदा हे तेरा, लगा जिन राजसे नेडा ॥

॥ सुनो० ॥ ४ । इति ॥

॥ अथ केसरियाजीनुं स्तवन ॥

केशरीयासें लाग्युं मारुं ध्यानरे, बीजुं मुने कांइ न गमेछे ॥ के० ॥ नाभि भूप मरुदेवीको नंदन, तुम पर जीया खुरबानरे ॥ बीजुं० ॥ के० ॥ १ ॥ धनुष पांचशे मान मनोहर, काया कंचन वानरे ॥ बीजुं० ॥ के० ॥ २ ॥ जुगलारे धर्म निवारण साहेब, राजेश्वर राजानरे ॥ बीजुं० ॥ के० ॥ ३॥ रुषभदासकी आशा पुरजो, सेवक अपनो जानरे ॥ बीजुं० ॥

॥ के० ॥ ४ ॥ इति ॥

॥ अथ पंचमीनुं लघु स्तवन लिख्यते ॥

पंचमी तप तमें करोरे प्राणी, जिम पामो निर्मल ज्ञानरे ॥
पहेलुं ज्ञानने पछी किरिया, नहि कोई ज्ञान समानरे ॥पं.॥१॥

नंदीसूत्रमां ज्ञान वखाण्युं, ज्ञानना पांच प्रकाररे ॥
मति श्रुत अवधिने मनः पर्यव, केवल ज्ञान उदाररे ॥पं.॥२॥

मति अठाविश श्रुत चउदह वीश, अवधिछे असंख्य प्रकाशरे ।
दोय भेदें मनः पर्यव दाख्युं, केवल एक उदाररे ॥पं.॥३॥

चंद्र सूर्य ग्रह नक्षत्र तारा, ऐसो तेज आकाशरे ॥
केवल ज्ञान उद्योत भयो जब, लोकालोक प्रकाशरे ॥ पं॥४॥

पारसनाथ प्रसाद करीने, महारी पूरो उमेदरे ॥
समयसुंदर कहे हुं पण पासुं, ज्ञाननो पंचमो भेदरे ॥ पं.॥५॥

॥ इति ॥

॥ दोहा ॥

वाडी चंपो मोरीओ, सोवन कुंपली ओण ।
पास जीनेश्वर पूजीयें, पांचों आंगली एण ॥ १ ॥

फुलो केरे बागमें, बैठे श्री जीनराज ।
ज्युं तारा विच चंद्रमा, त्युं सोहे महाराज ॥ १ ॥

पार्श्वनाथके नामसे, सब संकट मिट जाय ।
मन शुद्धे सेवा करे, ता घर लच्छी सुहाय ॥ २ ॥

॥ अथ दुहा ॥

जीवडा जिनवर पूजिये, पूजाना फल जोय ।
राजा नमे प्रजा नमे, आण न लोपे कोय ॥ १ ॥

भावे भावना भाविये, भावे दीजे दान ।
भावे जिनवर पूजिये, भावे केवल ज्ञान ॥ २ ॥

प्रभु नामकी औषधी, खरे मनशुं खाय ।
रोग पीडा व्यापे नहीं, महादोष मिट जाय ॥ ३ ॥

प्रभुजी पूजन हुं चल्यो, केसर चंदन घनसार ॥
नव अंगे पूजा करी, भव सायर पार उतार ॥ ४ ॥

पांच कोडीने फूलडे, पाम्या देश अढार ।
कुमारपाल राजा थयो, वर्त्यो जय जय कार ॥ ५ ॥

॥ इति ॥

॥ दोहा ॥

कुंभे वांध्युं जलरहे, जल विना कुंभ न होय ।
ज्ञाने वांध्युं मन रहे, गुरु विना ज्ञान न होय ॥ १ ॥

गुरु दीवो गुरु देवता, गुरु विना घोर अंधार ।
जे गुरु वाणी वेगला, ते रडवाडिया संसार ॥ २ ॥

जोवन जीवन माल धन, अविचल रह्यो न कोय ।
जो घडी गई प्रभु भजनमें, तो जीवनका फल सोय ॥१॥

दुःखमें सबको प्रभु भजे, सुखमें भजे न कोय ।
जो सुखमें प्रभुकुं भजे, तो दुःख कायेकुं होय ॥ १ ॥
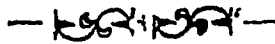
ज्ञानसमोको धन नहीं, समता समो नहीं सुख ।
जीवत सम आशा नहीं, लोभ समो नहीं दुःख ॥ १ ॥

संजम पाळे सिद्ध नमी, शियळ न खंडे लेश ।
तोय तस शिवगति वेगळी, जस गत राग न द्वेष ॥१॥

राजासेंती रुसणुं, विखहर सेंती आल ।
परनारीशुं प्रेमरस, ए त्रणे प्रत्यक्ष काळ ॥ १ ॥

जहां काम तहां राम नही, राम तीहां नहीं काम ।
तुलसी दोनुं ना बने, रवि रजनी इक ठाम ॥ १ ॥

कहेणी मीशरी खांडहे, रहेणी त्रिखनी वेल ।
कहेणी सो रहेणी हुवेतो, जाय अमरा पुर खेल ॥१॥

॥ पद राग पट ॥

सोई सोई सारी रेंन गुमाइ, वेरन निद्रा कहांरेसे आई ॥सो०॥
निद्रा कहे मेंतो वालीरे भोली, वडे वडे मुनि जनकूं
नाखुंरे ढोली ॥ सो ॥ १ ॥

निद्रा कहे मेंतो जमकी दासी, एक हाथे मूंकी वीजे
हाथें फांसी ॥ सो०॥ २ ॥

समय सुंदर कहे सुनो भाई वनीया, आप मरे सारी डूब
गइ दुनीयां सो० ॥ ३ ॥ इति ॥

॥ अथ पद राग पठ ॥

स्वारथकी सब हेरे सगाई, कुण माता कुण बेनड भाइ ॥
॥ स्वा० ॥ १ ॥ स्वारथ जो जन भक्त सगाई, स्वारथ विन

कोइ पाणि न पाइ ॥ स्वा० ॥ २ ॥ स्वारथ मा बाप शेठ वडाइ, स्वारथ विन नहु होत सहाइ ॥ स्वा० ॥ ३ ॥ स्वारथ नारी दासी कहाइ, स्वारथ विन लाठी ले धाइ ॥स्वा०॥ ४॥ स्वारथ चेला गुरु गुरु भाइ, स्वारथ विन तिन होत लराई ॥ ॥ स्वा० ॥ ५ ॥ समयसुंदर कहे सुणोरे लोकाइ, स्वारथ हे भलि परम सगाइ ॥ ६ ॥ इति ॥

॥ अथ श्री जिनदासजी कृत घन ॥

॥ अरे तुम जपो मंत्र नवकार, उनसे उतरोगे भवपार ।
होवे तेरी कायाको आधार, सफल करले अपनो अवतार ॥
ध्यान तुम मनसे धरो नरनार, खाण दुःखकी यह हे संसार ।
करो प्रभु न्याल अबे जिनदास, रखो प्रभुमुज चरणोंकेपास॥१॥

सरकजा कुमति नार कालि, तेरी सगंतसे गइ खाली ।
सोवत समताकी में टाली, आतमा तपमें नहीं घाली ॥
अनंत भव वीत गया खाली, वेदना निगोदकी झाली ।
अमर पद जिनदास मांगे, सदा पद प्रभुजीकुं लागे ॥ २ ॥

सीस नित नमु नाभि नंदन, चरणपर चढे केसर चंदन ।
करत सब इंद्रादिक बंदन, कटत हे कर्मोका फंदन ॥

साध्योंते सिवपुरको साधन, सर्व जीवनकुं सुख कंदन ।
जिनं गण जिनदास गावे, सीस चरणोंसे नमावे ॥ ३ ॥

बोलत हैया मेरा हस कर, चढावुं चंदन चुवा घसकर ।
पेठा में धर्मोमें धस कर, पाप दल दूर गया खस कर ॥

चेतन हुवा खडा कमर कसकर, हठाया कर्मोका लसकर ।
श्रीजिनराज जिहाज खासा, शरण जिनदास लिया वासा ॥४॥

कायाहुसे काम जाय, गांठहुसे दाम जाय ।
हेतुहुसे हेत जाय, रूप जाय अंगते ॥

उतमहुसे लाज जाय, कुलको संबंध जाय ।
गुरु जनकी सर्म जाय, मदनकी ऊमंगते ॥

इश्वरहुसे मीती जाय, तनसे आराम जाय ।
सुमीते मतीत जाय, अपने हूच भंगते ॥

शीवपुरको वास जाय, धर्मको निवास जाय ।
पुत्रहुकी आस जाय, इतनी सर्व बात जाय ॥
परनारीकी कुसंगते ॥ १ ॥

पशु पडंते नर घड्यो, भूल्यो सिंग और पुंच्छ ॥
धर्म क्रीया जाणें नहिं, धीग डाढी और मूच्छ ॥ १ ॥

ज्ञानीसे ज्ञानी मीले, करे ज्ञानकी बात ॥
मूर्खसे मुर्ख मीले, दो मुकी दो थाप ॥ १ ॥

गरीवको मत मार, गरीब रो देगा ॥
गरीब करे हाय, तो जडा मुलसे खोदेगा ॥ १ ॥

ऊत्तम विद्या लीजिये, यद्यपि नीच पे होय ॥
पड्यो अपात्रन ठोरमें, कंचन तजे नहीं कोय ॥ १ ॥

॥ महाजन महिमाका कवित्त ॥

महाजन जहां होत तहां हट्टी बाजार सार,
महाजन जहां होत तहां नाज ब्याज गल्लाहे;
महाजन जहां होत तहां लेन देन विधि विव्हार ।
महाजन जहां तहां सबहीका भल्ला हे ॥

महाजन जहां होत तहां लाखनको फेर फार,
महाजन जहां होत तहां हल्लन पै हल्ला है;
महाजन जहां होत तहां लक्ष्मी प्रकाश करे ।
महाजन नहि होत तहां रहवो विन सल्ला है ॥

॥ इति ॥

॥ अथ श्री परस्त्री निरखवा उपर लावणी ॥

चतुर परनारी मत निरखो, श्रावण केरी रेन अंधेरी ।
वीजलीको चमको ॥

रावण महोटो राय कहावे, लंका गढ वंको ।
पाप करीने नरक पहोंचीयो, दुःख पायो अधिको ॥ च० १॥

धातकी खंडको राय पदमोत्तर, द्रौपदिने हरतो ॥
कृष्ण नरेसरे करी खुवारी, जव पुण्य हुवो हलको ॥ च० २॥

कीचकराये महा दुःख पायो, भीमे शुं अधिको ॥
नारी द्रौपदीने हे विचारी, भव भवमें भटक्यो ॥ च० ॥३॥

परनारीको रंग पतंग है, पोवलको ज्वलको ॥
ओसबुंद जव लगे तावडा, ढळके जाय ढळको ॥ च०॥४॥

परनारीको सनेहज करतां, धन जाशे घरको ॥
दुजा देख कर करे खुवारी, जब वनमे भटक्यो ॥च०॥ ५ ॥

॥ इति ॥

॥ अथ श्री स्वारथ विषे लावणी ॥

कोन जगतमें ताहारो चेतन, कोन जगतमें म्हारोरे ।
अपने अपने स्वारथके बस, विन स्वारथ होय न्यारोरे ॥
॥ कोन० ॥ १ ॥ ए आंकणी ॥

स्वारथ मति सपुत्त वोलावे, जीजी करि रहे दासरे ॥
वीर कहे भगिनी निज स्वारथ, लागे पीताकुं प्यारोरे ॥को०२॥

हय गय रथ नायक धन परधन, कोइन रावण हारारे ॥
काळ बेहाल सवहीकुं करते, करता मुख पोकारारे ॥को०॥३॥

इंद्रजाळ सुपना सम जाणे, जुठा जगत पसारारे ॥
सेवो चरण कोई संत जनोके, ज्युं होवे निस्तारारे ॥को०॥४॥

॥ इति ॥

॥ दोहा ॥

भोंमां पेशी भोयरे, करीये छानी वात ॥
चडीये मनमां घाट जे, जाणे जगनो तात । १ ॥

वासुदेव चक्री पुनि करण दान दीया हे ॥
कवि कहे गंगादास, गंगाके निकट वीच,
एक सेर अनाजने जगत जेर कीया हे ॥ १ ॥

॥ इति ॥

॥ प्रस्ताविक संग्रह ॥

ज्ञानवंतने केवली, द्रव्यादिक अहिनाण ॥
ब्रुहत्कल्पनी भाष्यमां, सरखा भाष्या जाण ॥ १ ॥
क्रिया मात्र कृत कर्म क्षय, दद्दुर चुन्न समान ॥
ग्यान कह्युं उपदेश पद, तास छार सम जानं ॥ २ ॥
खजुआ सम किरिया कही, ज्ञान भान सम जोय ॥
कलियुग एह पटंतरो, बुजे विरला कोय ॥ ३ ॥

हुं तुज पूछुं हे लछी, कृपण घरेकां जाय ॥
सूरा दाता चतुर नर, ते तुज कांन सुहाय ॥ ४ ॥
सूरा घर रंडा पणुं, दाता दे पर हथ्थ ॥
चतुरां घर मुज सोकडी, तिण कृपण तणो लियो सथ्थ ॥५॥
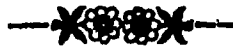
॥ सवैया ॥

धीरज तात क्षमा जननी, परयार्थ मित्त महारुचि मासी ।
ज्ञान सुपुत्त सुता करुणा मति पुत्र वधू समता मतिभासी ॥
उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र शुभोदय दासी ।
भाव कुटुंब जिन्हके ढिग, सो मुनिकुं कहिये गृहवासी ॥१॥

॥ सवैया ॥

योगी सिद्ध कलंदर तापस, होत दिगंबर मार कसोटी ।
पीर मुरिद मुसाफर मीरा, सेख वसे वनमांहि तंगोटी ॥

जे जपियां जप जाप जपहैं, जांहिंकी कीरती देश महोटी ।
सेवक हे स्वामी दास निरंजन, रोटी बिना सब बातहे खोटी१।

योगि धरे योग ध्यान, पंडीत पढे पुराण;
ज्ञानी कहियानपें, उदास भेख लीया हे ॥
केते शाह पातशाह, केते शाह जादे केते ॥